आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/Journals
वर्ष 1, अंक 2, दिसम्बर 2015, पृ. 6–35

विकास का आधुनिकतावादी सिद्वान्त

वीरेन्द्र पाल सिंह*
पंकज कुमार सिंह**

अपने प्रारम्भिक काल से ही समाजशास्त्र का 18वीं व 19वीं शताब्दी में यूरोपीय समाजों में हो रहे तीव्र एवं हिंसात्मक परिवर्तनों की व्याख्या से निकट रुप से सम्बन्धित रहा है। अनेकों इतिहासकारों व दार्शनिकों (स्कॉटिश इतिहासकारों व दार्शनिकों में फरग्यूसन, मिलर, व राबर्टसन; फ्रांसिसी दार्शनिकों में वॉल्टेयर, टारगॉट व कॉनडोरसैट; जर्मन इतिहासकारों व दार्शनिकों में हर्डर व हीगल) ने अपने युग में हो रही सामाजिक व रातनीतिक क्रान्तियों की व्याख्या इतिहास के एक सामान्य सिद्वान्त के अन्तर्गत की है। इन सभी विद्वानों के विचारों का एक गंभीर प्रभाव प्रारम्भिक समाजशास्त्र पर देखा जा सकता है। बाद के लेखकों (जैसे सैन्ट साइमन व बुकले तथा प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों– कॉम्ट, मार्क्स व स्पैनसर) पर इसे और भी स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है। तत्पश्चात 19वीं शताब्दी में समाजशास्त्र व मानवशास्त्र में एक ऐतिहासिक अथवा उद्‌विकासवादी दृष्टिकोण प्रभावी रहा। मैक्स वैबर ने य़द्यपि सार्वभौमिक इतिहास के किसी सिद्वान्त का प्रतिपादन तो नहीं किया परन्तु इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि उनकी सभी सामाजिक कृतियां एक ऐसी ऐतिहासिक घटना से प्रेरित अवश्य रही हैं जिसे आधुनिक पूंजीवाद के उदय व इसके महत्व के सन्दर्भ में तथा उसके फलस्वरुप सामाजिक जीवन में बढ़ते हुए तार्किकीकरण व मानव स्वतन्त्रता पर पड़ने वाले प्रभावों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

डुर्कहाइम (अधिकतर हिन्दी पुस्तकों में इसे दुर्खीम या दुरखाइम के रुप में सम्बोधित किया गया है) ने यूं तो कॉम्ट के उद्‌विकासवादी सिद्वान्त को अस्वीकृत किया परन्तु उनकी स्वयं की समाज के वर्गीकरण की रुपरेखा को भी इसी रुप में देखा जा सकता है। डुर्कहाइम की पुस्तक *समाज में श्रम विभाजन* (1893) का सम्बन्ध प्राथमिक समाज से आधुनिक समाज में विकसित होने की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। हॉबहाऊस की रचनाओं पर कॉम्ट व स्पैन्सर का भारी प्रभाव देखा

*प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, वैश्वीकरण एवं विकास अध्ययन केन्द्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद–211 002 उ. प्र.।
**असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, महाराणा प्रताप राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिल्सी, बदायूं, उ.प्र.।

जा सकता है। उसकी समस्त समाजशास्त्रीय रचनाएं स्पष्ट रुप से सामाजिक प्रगति की दार्शनिक अवधारणा से निर्देशित हैं।

इन प्रारम्भिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में 'परिवर्तन', 'उद्‌विकास', 'विकास', तथा 'प्रगति' की धारणाओं में कई बार भ्रम की स्थिति दिखायी पड़ती है अथवा ये सभी किसी एक अवधारणा से सम्बद्ध प्रतीत होती हैं; जबकि दूसरे प्रकरणों में इनमें विभेद तो किया गया है परन्तु तार्किक रुप से इन्हें परस्पर सम्बन्धित शब्दों के रुप में ही लिया गया है। वास्तव में सामाजिक उद्‌विकास की अवधारणा को सीधे ही जैवकीय उद्‌विकास के सिद्धान्तों से ले लिया गया था, जिन्होंने 19वीं शताब्दी में समाजशास्त्र पर 'इतिहास के दर्शन' के प्रभाव को और अधिक शक्तिशाली रुप से पुर्नस्थापित किया तथा इसका प्रभाव हरबर्ट स्पैन्सर और टॉयलर की कृतियों में स्पष्ट रुप से दिखायी पड़ता है।

बाद में जैवकीय व सामाजिक उद्‌विकास में की जाने वाली अनुरुपता की कमियों को समझ लिया गया तथा कुछ समाजशास्त्रियों ने ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया को 'सामाजिक विकास' कहना अधिक पसन्द किया, परन्तु इसके बाबजूद भी इन धारणाओं में दृढ़तापूर्वक अन्तर नहीं किया गया। उदाहरण के लिये एल. टी. हॉबहाऊस ने अपनी अधिकतर रचनाओं में इन शब्दों का पर्यायवाची की तरह उपयोग किया है। उसने अपनी पुस्तक 'सामाजिक विकास' में विकास के निम्न चार आधारों को प्रस्तुत किया है: 1. स्तर में वृद्धि (increase in scale); 2. क्षमता में वृद्धि (increase in efficiency); 3. परस्पर निर्भरता में वृद्धि (increase in mutuality); तथा 4. स्वतन्त्रता में वृद्धि (increase in freedom)। तत्पश्चात उसने इन आधारों को जैवकीय उद्‌विकास से स्पष्ट रुप से जोड़ा। बाद के दोनों आधार उसकी प्रगति की अवधारणा से जुड़े हुये हैं। अनेकों दूसरे समाजशास्त्रियों ने अपने सामाजिक विकास के विवरणों में स्तर में वृद्धि को आधार के रुप में प्रयुक्त किया है। स्पैन्सर व डुर्कहाइम ने समाजों के वर्गीकरण में इसी आधार का प्रयोग किया है। विकास का एक अन्य सबसे अधिक प्रयुक्त आधार 'सामाजिक विभेदीकरण' है जो स्पैन्सर व डुर्कहाइम के साथ–2 हॉबहाऊस के विवरणों में भी मिलता है तथा मैकाइवर और पेज ने भी इसे प्रमुख आधार माना है।

सामाजिक प्रघटनाओं के सन्दर्भ में 'विकास' शब्द यद्यपि 'उद्‌विकास' शब्द की अपेक्षा बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है। साधारण प्रयोग की भाषा में विकास का अर्थ है 'एक क्रमिक रुप में समुन्नत होना; किसी विचार को विस्तारपूर्वक आगे बढ़ाना; बीज में पाये जाने वाली वस्तुओं की वृद्धि (आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी)। इस अर्थ में हम किसी बालक अथवा बीमारी के विकास के बारे में कह सकते है, परन्तु इस अर्थ में सामाजिक विकास के बारे में कहना कठिन है क्योंकि हम सदैव निश्चित रुप से इसको बीज से सम्बन्धित एक विशिष्ट प्रघटना के सन्दर्भ में नहीं ले सकते अथवा विकास तथा क्षय की विशिष्ट प्रक्रिया के मध्य स्पष्ट रुप से भेद नहीं कर सकते। केवल दो ही ऐसी सामाजिक प्रक्रियाएं हैं जिनके लिये सही प्रकार से 'विकास' शब्द का प्रयोग करना सम्भव प्रतीत होता है, ये हैं– 'ज्ञान की अभिवृद्धि' तथा 'प्राकृतिक पर्यावरण के ऊपर मनुष्य के नियन्त्रण में अभिवृद्धि', जो कि तकनीकी तथा आर्थिक क्षमता के माध्यम से किया जाता है। निस्संदेह यही वे दो प्रक्रियाएं हैं जो मानव समाज के विकासवादी या उद्‌विकासवादी विवरणों में प्रमुख रुप से दिखायी देती हैं।

हाल ही की समाजशास्त्रीय रचनाओं में 'विकास' शब्द का प्रयोग भिन्न प्रकार से किया गया हैः प्रथमतः, दो प्रकार के समाजों में अन्तर स्थापित करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसमें एक ओर सम्पन्न औद्योगिक समाज है तो दूसरी ओर वे सभी समाज (अन्य बातों में परस्पर अति भिन्न) हैं जो प्रमुख रुप से ग्रामीण, कृषि पर निर्भर तथा गरीब हैं। द्वितीयतः, औद्योगिकीकरण अथवा आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं का विवरण प्रस्तुत करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है।

विकास की इस नवीन धारणा की कई अलग विशेषताएं हैं। यह सामाजिक उद्विकास अथवा विकास के उस सिद्धान्त पर निर्भर नहीं करता जो मानव इतिहास के सम्पूर्ण काल को समावेशित करता है, अपितु यह सिद्धान्त एक विशिष्ट प्रकार के परिवर्तन से सम्बन्धित है जो वर्तमान काल में घटित हो रहा है अथवा अभी हाल ही में घटित हो चुका है। इसको एक सरल ऐतिहासिक प्रारुप (model) के अन्तर्गत तीन अवस्थाओं में होने वाली प्रक्रिया के रुप में प्रसतुत किया जाता हैः 1. परम्परागत समाज (traditional society) 2. संक्रमणशील समाज (transitional society) 3. आधुनिक समाज (modern society)। इस अर्थ में विकास के अध्ययन विशिष्ट रुप से आर्थिक अभिवृद्धि (economic growth) पर केन्द्रित रहे हैं तथा ऐसा करते समय वे अनेकों पूर्वकालीन सिद्धान्तोंमें निहित तत्वों का समावेश भी कर लेते हैं – जैसे 'ज्ञान की अभिवृद्धि' तथा 'प्राकृतिक पर्यावरण के ऊपर मनुष्य का नियन्त्रण'। दूसरे शब्दों में, समाज के रुपान्तरण की प्रक्रिया में उत्पादन की मानवीय शक्तियों का विकास सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व है। यद्यपि कुछ सीमा तक इस विचार ने 'तकनीकी निर्धारणवाद' (technological determinism) को भी जन्म दिया है जो सामाजिक संरचना के कई महत्वपूर्ण पक्षों की उपेक्षा कर देता है। समकालीन लेखकों की रचनाओं में विकास की समाजशास्त्रीय व्याख्या में दो प्रमुख सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैंः 1. आधुनिकतावादी सिद्धान्त तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त। विकास के आधुनिकतावादी सिद्धान्तों में प्रमुख रुप से नील जे. स्मेलसर, बी. एफ. होज़ेलिज, एस. एन. आइज़ेनस्टैट, टॉलकॉट पारसंस, डबल्यू. डबल्यू. रोस्तॉव, डेनियल लर्नर व मैकलिलैन्ड को सम्मिलित किया जा सकता है।

टालकॉट पारसन्स (Talcott Parsons) की विकास की अवधारणा

परिवर्तन का अनुभव प्राप्त कर चुके समाज तथा अपरिवर्तनशील एवं परम्रागत सामाजिक संगठन वाले समाजों के मध्य अन्तःक्रिया को सैद्धान्तिक रुप से प्रसिद्व अमेरिकी समाजशास्त्री टालकॉट पारसन्स (1902-1979) ने अपनी रचनाओं में विश्लेषित किया है। पारसन्स को प्रायः आधुनिक प्रकार्यवाद का संस्थापक कहा जाता है। 1937 में प्रकाशित उनकी प्रमुख कृति दी स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन (The Structure of Social Action) के बाद के पचास से भी अधिक वर्षो में पारसन्स अमेरिकी समाजशास्त्र मे सबसे अधिक सृजनशील और विवादास्पद व्यक्ति रहे। अनेक विद्वान उन्हें 'घोर–प्रकार्यवादी' के रुप में देखते हैं। उनकी रचनाओं का आधार यह मान्यता थी कि 'सामान्यत, सामाजिक जीवन परस्पर वैमनस्य तथा विनाश की अपेक्षा परस्पर लाभ तथा शाँतिपूर्ण सहयोग के द्वारा संचालित होता है'।

पारसन्स के समाजशास्त्र में 'संरचनाओं के कार्य करने' को केन्द्रीय महत्ता प्रदान की गयी है, इसके अनुसार ही वह सभी समाजों को विभेदीकृत, एवं प्रकार्यात्मक रुप से विशिष्ट सामाजिक संस्थाओं द्वारा निर्मित व्यवस्था के रुप में देखते हैं। सम्पूर्ण व्यवस्थाओं को एक तालबद्ध संतुलन की अवस्था में बनाये रखने का कार्य सहमति पर आधारित मूल्य मतैक्य द्वारा किया जाता है। डुर्कहाइम की भाँति ही पारसन्स के समाजशास्त्रीय विश्लेषण का प्रमुख कार्य सामाजिक संस्थाओं का

वैज्ञानिक अध्ययन करना है। पारसन्स के विचार से सामाजिक संस्थाओं को भिन्न तथापि परस्पर निर्भर समूहों के रुप मे देखा जाता है जो मौटे तौर पर समान सांस्कृतिक प्रतिमानों वाले होते है; डुर्कहाइम का अनुसरण करते हुए पारसन्स सांस्कृतिक प्रतिमानों की समानता की व्याख्या निम्न प्रकार से करते हैं:

1. समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से; जिसमें व्यक्ति समूह आदर्शों (group norms) तथा मूल्य व्यवस्थाओं (value systems) का आन्तरीकरण करते हैं।

2. बाह्य सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा, जो व्यक्ति पर दण्ड की धमकी के कारण मिलता है, यदि वह व्यवहार के स्वीकृत प्रतिमानों से विचलित होता है।

पारसन्स सभी सामाजिक व्यवस्थाओं को अपना अस्तित्व बनाये रखने और फलने–फूलने (उन्नति करने) के लिए कुछ विशिष्ट समस्याओं का सामना करते हुए देखते हैं उन्होंने ऐसी चार दशाओं को निश्चित किया है जो किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। इन्हे उसने 'प्रकार्यात्मक पूर्व–दशाओं' अथवा अस्तित्व के लिए 'आवश्यक तत्वों' की संज्ञा दी है।

(1) अनुकूलन (Adaptation)

यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्थायें अपने चारों ओर के प्राकृतिक पर्यावरण से जीवन की मूलभूल आवश्यकताओं–भोजन कपड़ा और आवास– को जुटाने के उद्देश्य से अन्तःक्रिया करती है।

(2) एकीकरण (Integration)

सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक व्यवहार के स्थापित प्रतिमान होते हैं जो इस बात को सुनिश्चित करते हैं कि यह एकीकृत तथा स्थिर अवस्था में है।

(3) लक्ष्य प्राप्ति (Goal Attainment)

सामाजिक व्यवस्था के कुछ लक्ष्य होते हैं जो सामाजिक रुप से महत्वपूर्ण उन प्रकार्यो का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें उचित रुप से पुरुस्कृत किया जाना है।

(4) अर्न्तहितता व प्रतिमान सुनिश्चितता (Latency and Pattern Maintenance):–

इसका सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था में यह सुनिश्चित करने से है कि संस्थागत मूल्यों को बनाये रखा जाये ताकि समाजिक व्यवस्था बनी रहे।

पारसन्स द्वारा उल्लेखित चारों तत्व परस्पर निकट रुप से जुड़े हुए है तथा इसके फलस्वरुप किसी एक पक्ष मे होने वाला परिवर्तन कुछ अथवा सभी में परिर्वतन लाता है। जैसा कि पारसन्स ने स्वयं कहा है

"एक बार यदि संन्तुलित व्यवस्था मे 'व्यवधान उत्पन्न कर दिया जाये तो व्यवस्था को सन्तुलन की अवस्था में पुनः लाने के लिए प्रतिक्रिया होना आवश्यक होगा" (पारसन्स 1971:)

सामाजिक व्यवस्था मे सन्तुलन को पुनः कायम करने की प्रक्रिया के दौरान ही सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया घटित होती है। पारसन्स 'परिवर्तन' शब्द का प्रयोग करने मे एक विशेष प्रकार की प्रकार्यवादी कठिनाई महसूस करता है तथा उस प्रक्रिया को 'गतिमान सन्तुलन' (moving equilibrium) कहना पसन्द करता है।

1960 के दशक में पारसन्स ने अपना ध्यान सामाजिक उद्‌विकास की प्रक्रिया की ओर किया। *अमेरिकन सोसियोलोजिकल रिव्यू* (June, 1964, 23(3), 339) के लिए लिखे एक शोध पत्र में उसने यह कहा कि "समाजशास्त्रीय और मानवशास्त्रीय दोनों ही क्षेत्रों में सामाजिक तथा सांस्कृतिक उद्‌विकासवादी ढाँचे पर अधिक बल दिया जाने लगा है।"

अपने विश्लेषण की स्थापना के लिए पारसन्स ने उद्‌विकासवादी सामान्य तत्वों (Evolutionary universals) की अवधारणा को प्रस्तावित किया। इसे उसने 'किसी ऐसे संगठनात्मक विकास के रुप में परिभाषित किया है जो आगे के उद्‌विकास के लिए पर्याप्त रुप से महत्वपूर्ण है, एक ही बार उत्पन्न होने की अपेक्षा यह (लक्ष्य) विभिन्न दशाओं के अर्न्तगत कार्य कर रही विभिन्न व्यवस्थाओं द्वारा प्राप्त किया जाता है'।

पारसन्स के अनुसार 'उद्‌विकास वादी सामान्य तत्व' सामाजिक व्यवस्थाओं के लिए उनके सन्तुलन में गति को प्रभावित करने वाली मूलभूत आवश्यकताएं है। उसकी सैद्धान्तिक योजना के अनुसार वे अपने धारकों की सामान्यीकृत अनुकूलन क्षमता (generalized adaptive capacity) में प्रचुर मात्रा मे वृद्धि करने में इतना अधिक समर्थ बनाती है कि उनके अभावों से ग्रस्त प्रजातियाँ उन सभी प्रमुख क्षेत्रों में अपेक्षाकृत रुप से अलाभकारी स्थिति में रहती है जिनमे प्राकृतिक चयन अस्तित्व के लिए इतनी मात्रा में नहीं होता जितना कि आगे बड़े विकासों को प्रांरम्भ करने की सम्भावना के लिए होना चाहिए।

पारसन्स द्वारा बताये गये इन उद्‌विकासवादी सामान्य तत्वों में प्रकार्य की 'एक वैधता प्राप्त, विभेदीकृत सामाजिक व्यवस्था' के साथ अभिवृद्धि परिवार की सीमाओं से बाहर होती है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार्य वादी विभेदीकरण को स्पष्ट रुप से दिखायी देने वाली सामाजिक संस्तरण की व्यवस्था का निर्माण करना चाहिये। दूसरा जीवन्त सामान्य तत्व लिखित भाषा व्यवस्था का निर्माण है क्योंकि उस से यह सुनिश्चित हो जायेगा कि एक समूह दूसरे समूह से साक्षरता के द्वारा संस्तरित रुप में अलग हो जायेगा। यह पृथकीकरण एक ऐसा शक्ति आधार प्रदान करेगा जिस पर संस्तरण व्यवस्था को वैधानिकता प्रदान की जा सकेगी। यह एक ऐसी स्थिति है, जिसे प्रभावकारी नौकरशाही व्यवस्था द्वारा बढ़ावा दिया जा सकता है। पारसन्स द्वारा बताये गये दूसरे सामान्य तत्वों में मुद्रा पर आधारित अर्थव्यवस्था (monetary economy) तथा बाजार व्यवस्था (market system) सम्मिलित हैं। जिन्हें एक विश्वस्त वैधानिक ढ़ाँचे द्वारा सहारा दिया जाता है। इस वैधानिक ढ़ाँचे को सामाजिक व्यवस्था मे विश्वस्त आधार पर स्वीकारा जाता है।

पारसन्स की दृष्टि में समाजों के उद्‌विकास को अपेक्षाकृत एक अनियमित प्रक्रिया के रुप में देखा जाना चाहिये जो कि 'सांस्कृतिक विसरण' (cultural diffusion) का परिणाम हैं यह विसरण उद्‌विकास के उच्च स्तर पर स्थित तथा उसके नीचे के स्तर पर स्थित समाजों के मध्य होता है। पारसन्स ने उन विशिष्ट समाजों को परिभाषित किया है जो उसके मत से उन अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते है जिनसे समाजों को अपने उद्‌विकासवादी पथ पर आगे बढ़ते हुए गुजरना चाहिये।

प्राथमिक आदि	देशवासी (अविभेदीकृत)
प्राचीन प्राथमिक तथा प्राचीनतम	प्राचीन मिस्र
ऐतिहासिक मध्य कालिक	प्राचीन भारत, चीन
'बीजारोपण के लिए तैयार स्थिति' ('seed bed')	प्राचीन इस्राइल, ग्रीस और रोम
आधुनिक	औद्योगिक संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप

इनमें से प्रत्येक क्रमबद्ध अवस्था की विशेषता कुछ निश्चित उदविकासवादी तत्वों जैसे भाषा, मुद्रा पर आधारित अर्थ–व्यवस्था आदि का जुड़ना है। पारसन्स ने उनमे से दो तत्वों पर विशेष जोर दिया है जो उसकी दृष्टि में प्राथमिक अवस्था से सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया के लिए महत्वपूर्ण हैं। इनमें से पहला है, परम्परागत नातेदारी प्रतिमानों का हृास जैसे कि विस्तृत परिवार का पतन। दूसरी वह स्थिति है जो, पारसन्स के शब्दों में "सामाजिक स्तरीकरण की 'भली प्रकार चिन्हित व्यवस्था' का विकास पहले होता है तथा यह राजनीतिक प्रकार्य के वैधानिकीकरण की शर्त है" (The Social system, p.342)। दूसरे शब्दों में सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार से रचित किया जाना चाहिये कि व्यक्ति 'सम्पदा' तथा 'शक्ति पर पहुँच' दोनों मे असमानता रखते हों। पारसन्स का विचार है कि ऐसी स्थिति इस प्रकार्य को सम्पादित करने के लिए जन साधारण में से सबसे उपयुक्त का (प्रभावशाली नेतृत्व प्रदान करने के लिये) चुनाव किया जाना सुनिश्चित करेगी।

यहाँ पारसन्स के सामने भी वही कठिनाई आती है जो डुर्कहाइम के सामने आयी थी। आंतरिक जटिलता में वृद्धि होने तथा व्यक्तिवाद की ओर आगे बढ़ने से, जो औद्योगिक समाज को प्रतिरुपित करती है, सामाजिक व्यवस्था में सन्तुलन तथा गत्यात्मकता (dynamism) दोनों को एक ही समय में कैसे बनाये रखा जा सकता है? व्यक्तिवाद द्वारा गत्यात्मकता आयेगी, परन्तु यह कल्पित मूल्य मतैक्य (value consensus) को नष्ट करेगी तथा सन्तुलन के लिए चुनौती उत्पन्न करेगी; मूल्य मतैक्य की ओर वापसी व्यक्तिवाद को रोकेगी तथा गत्यात्मकता पर अंकुश लगायेगी। समाज के ये दोनों पक्ष असंगत प्रतीत होते हैं। पारसन्स ने इस समस्या का समाधान यह दावा करके किया कि संस्थाओं की भिन्नता में वृद्धि सामाजिक मूल्यों के सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था मे अधिक सामान्यीकृत हो जाने की स्वीकृति देती है। उदाहरण के लिए, पारसन्स का दावा है कि मूलभूत नैतिकता के सार्वभौमिक मापदण्ड जैसे प्रतिस्पर्धा, निष्पत्ति (achievement), कानून के दायरे में स्वतन्त्रता आदि मूल्यों को समस्त पश्चिमी औद्योगिक समाजों में विस्तृत स्वीकृति प्राप्त है। इसे 'सामान्यीकृत सामाजिक मूल्य' तथा बढ़ती हुई अनुकूलन क्षमता की और प्रमाण के लिए एक प्रभावकारी शिक्षा व्यवस्था तथा जनसंचार माध्यम तन्त्र की भी आवश्यकता होती हैं जिससे विचारों को दूसरी सामाजिक व्यवस्थाओं में विसरित किया जा सके।

पारसन्स के विश्लेषण में इन विचारों का विसरण औद्योगीकरण के केन्द्रों से बाहर की ओर क्रमिक तथा उद्विकासवादी तरीके से होता है। यहाँ पर पारसन्स ने मेक्स वेबर का अनुसरण अपने इस दृष्टिकोण में किया है कि 'औद्योगिक व्यवस्था स्वयं ही सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक संगठन के एक समान प्रतिमानों को ले आती है'। अनेकों सिद्धान्तकारों ने इस प्रकार के विचार का अनुसरण करते हुए यह घोषणा की, ''जैसे–जैसे कोई समाज उत्पादन की औद्योगिक प्रणाली की ओर बढ़ता है तथा जटिल, आधुनिक समाज की आन्तरिक विशेषताओं को धारण करता है तो यह

कहा जा सकता है कि यह विकास के अनुभव से गुजर रहा है''। सिद्धान्तकारों में इस बात पर मतभेद है कि वे उत्पादन की औद्योगिक प्रणाली को अपनाने में विचारों की भूमिका पर जोर दें अथवा तकनीकी की भूमिका पर जोर दें। यद्यपि इनमें से अनेक इस आवश्यकता पर सहमत हैं कि सरल समाजों को विकास के लिए आधुनिकीकृत (अर्थात उन्हें औद्योगिकीकरण से प्रभावित होना चाहिए) होना चाहिये तथा इसलिए ही इस समूह के सिद्धान्तकारों को सामूहिक रुप से 'आधुनिकीकरणवादी' सिद्धान्तकार (modernisation theorists) कहा जाता है।

स्मेलसर का संरचनात्मक–विभेदीकरण प्रारुप

विल्बर्ट ई. मूर के अनुसार, आधुनिकीकरण का अर्थ है– एक परम्परागत अथवा पूर्व–आधुनिक समाज का 'तकनीकी तथा संबद्ध सामाजिक संगठन के उन प्रकारों में सम्पूर्ण रुपान्तरण है जो पश्चिमी जगत के 'प्रगतिशील', आर्थिक रुप से सम्पन्न, तथा अपेक्षाकृत राजनीतिक रुप से स्थिर राष्ट्रों की विशेषता है (मूर 1963:89)। यह विचार इस प्रस्थापना पर आधारित है कि 'परम्परागत' तथा 'प्रगतिशील' अथवा 'आधुनिक' समाजों की सामान्य विशेषताओं का वर्णन किया जा सकता है तथा इस प्रकार से विकास को एक प्रकार के समाज से दूसरे प्रकार के समाज में रुपान्तरण के रुप में देखा जा सकता है। इस प्रक्रिया को दर्शाने हेतु एक प्रारुप का निर्माण करने की दिशा में किये गये अनेकों प्रयासों में से नील. जे. स्मेलसर (1963) का संरचनात्मक विभेदीकरण की अवधारणा पर आधारित प्रारुप श्रेष्ठ है। उनके अनुसार एक विकसित आर्थिक व्यवस्था तथा समाज की विशेषता उसमें पायी जाने वाली उच्च कोटि की विभेदीकृत संरचना है तथा एक अल्पविकसित (underdeveloped) समाज में अपेक्षित रुप से विभेदीकरण का अभाव होता है तथा इस कारण से विभेदीकरण की प्रक्रिया स्वयं ही केन्द्र बिन्दु बन जाती है। विभेदीकरण से स्मेलसर का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा समाज में अधिक विशिष्टीकृत तथा अधिक स्वायत्त सामाजिक इकाईयां स्थापित होती हैं। इस प्रक्रिया को वह कई क्षेत्रों– अर्थव्यवस्था, परिवार, राजनीतिक व्यवस्था, तथा धार्मिक संस्थाओं में घटित होते हुए देखता है।

स्मेलसर के इस प्रारुप का सम्बन्ध आर्थिक निर्धारकों को पृथक करना नहीं है अपितु सामाजिक रुपान्तरण का वर्णन करना है जिसके साथ–साथ आर्थिक विकास भी होता है। आर्थिक विकास को वह जनसंख्या के प्रति–व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि के रुप में परिभाषित करता है।

स्मेलसर के अनुसार आर्थिक विकास निम्न चार प्रक्रियाओं के द्वारा घटित होता है:

(क) तकनीकी का आधुनिकीकरण–जिसके द्वारा सरल परम्परागत तकनीकी को वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग करके परिवर्तित किया जाता है;

(ख) कृषि का व्यापारीकरण–इसके अन्तर्गत निर्वाहकारी खेती से व्यापाारिक कृषि में परिवर्तन होता है जिसके फलस्वरुप नकदी–भुगतान वाली फसलों के उत्पादन में विशेषता तथा मजदूरी पर कार्य करने वाले श्रमिकों का प्रादुर्भाव होता है;

(ग) औद्योगीकरण की प्रक्रिया–इसके अन्तर्गत मानव तथा पशु–शक्ति के स्थान पर मशीन की शक्ति के उपयोग की ओर परिवर्तन होने लगता है;

(घ) नगरीकरण–इसमें पर्यावरण के पक्षों में परिवर्तन होता है तथा जनसंख्या का पलायन फार्म तथा ग्राम से बड़े नगरीय केन्द्रों की ओर होने लगता है।

ये प्रक्रियाएं कभी–कभी एक साथ घटित होती है तो कभी विभिन्न दरों पर। उदाहरण के तौर पर कई उपनिवेशवादी परिस्थितियों में कृषि का व्यापारीकरण बिना औद्योगीकरण के पहले हो जाता है अथवा औद्योगीकरण बिना अधिक नगरीकरण के विकसित हो जाता है। कुछ भी हो, ये चार प्रक्रियाएं 'परम्परागत समाजों की सामाजिक संरचना को समान तरीकों से प्रभावित करने को बाध्य है। सर्वप्रथम, हम पाते है कि संरचनात्मक विभेदीकरण' अधिक विशिष्टीकृत एवं स्वायत्त सामाजिक इकाईयों की संरचना होने पर घटित होता है। उदाहरण के लिए, जैसे–जैसे आर्थिक विकास होता है, कई प्रकार की आर्थिक गतिविधियाँ परिवार नामक संस्था से पृथक हो जाती हैं। नकदी फसलों के परिणाम स्वरुप सामान्य रुप से घर से जुड़ी रहने वाली उत्पादन एवं उपभोग की गतिविधियाँ भी एक दूसरे से अलग हो जाती हैं तथा श्रम पर आश्रित मजदूर उत्पादन व्यवस्था को कमतर आँका जाने लगता है। परिवार अब उत्पादन की मूल इकाई न रहकर भावनात्मक परितुष्टि (Emotionl Gratification) तथा समाजीकरण जैसी गतिविधियों पर अधिक केन्द्रित इकाई हो जाते हैं (स्मेलसर 1963:108)। परिवार के अर्न्तगत शिष्यता (apprenticeship) का ह्रास होने लगता है तथा नातेदारी सम्बन्धों के आधार पर श्रमिकों की भर्ती के विरुद्व दबाव उत्पन्न होने लगता है। सत्ता के प्रतिमान में भी रुपान्तरण होता है, बुजुर्ग अपना प्रभाव व नियन्त्रण खो बैठते हैं तथा विस्तृत परिवार, एकाकी परिवारों में टूटने लगते हैं। विवाह के आदर्शों में भी बदलाव होने लगता है क्योंकि जीवनसाथी के चुनाव में व्यक्तिगत पसन्द पर अधिक बल दिया जाने लगता है तथा महिलायें आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक तौर पर अधिक आत्म–निर्भर हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, सामाजिक संस्तरण के क्षेत्र में हम देखते हैं कि विभिन्न व्यावसायिक, राजनीतिक तथा धार्मिक पदों पर भर्ती के लिए प्रदत्तता के स्थान पर अर्जित गुणों को प्राथमिकता दी जाने लगती है, तथा समाज में व्यक्तिगत गतिशीलता की दर में वृद्वि होने लगती है।

संरचनात्मक विभेदीकरण के साथ ही समाज में एकीकरण की प्रक्रिया भी होने लगती है। जिसके द्वारा विभेदीकृत संरचनाएं नये आधारों पर परस्पर जुड़ने लगती हैं। उदाहरण के लिए, पूर्व–आधुनिक समाज जहाँ राजनीतिक एकीकरण नातेदारी सम्बन्धों, आदिवासी समूह की सदस्यता, मूलभूत आर्थिक संसाधनों पर नियन्त्रण तथा रहस्यपूर्ण विधानों (mystical sanctions) से निकट रुप से संबद्व रहते है, 'आधुनिक' प्रकार के समाजों मे परिवर्तित होने लगते है, जिनकी विशेषताएं राजनीतिक दलों, दबाव समूहों तथा राज्य–नौकरशाही की विषमता हैं। (डेविड ईस्टन ने इसकी व्याख्या विस्तृत रुप से की है)।

सामाजिक जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी हमें इस प्रकार की एकीकरण की प्रक्रियाएं घटित होती दिखायी पड़ती है। उदाहरण के लिए, आर्थिक क्षेत्र में किसान तथा आदिवासी पूंजीवादी अथवा आधुनिक सहकारी प्रकार के व्यापारिक प्रतिष्ठानों, ट्रेड यूनियनों, तथा श्रमिक भर्ती ऐजेन्सियों के माध्यम मे सहभागिता द्वारा नये सम्बन्धों का विकास कर लेते है अथवा धार्मिक क्षेत्र में, धार्मिक प्रतिष्ठान (मंदिर, मस्जिद, चर्च), सम्प्रदाय तथा धार्मिक नौकरशाही राजनीतिक संस्थाओं के नियन्त्रण से बाहर हो जाती है।

विभेदीकरण तथा एकीकरण की इन दोनों प्रक्रियाओं के साथ–साथ समाज में यत्र–तत्र (sporadic) सामाजिक व्यवधान भी घटित होते हैं (जैसे–हिंसा का फूट पड़ना, धार्मिक व राजनीतिक आन्दोलनों का उद्‌भव) जो परिवर्तन की असमान दर को परिलक्षित करता है। स्मेलसर

के अनुसार, कई बार इन प्रतिमानों में निरन्तरता का अभाव भी दिखायी देता है क्योंकि एकीकरण की प्रक्रिया सदैव विभेदीकरण की प्रक्रिया के साथ तादातम्य स्थापित नहीं कर पाती तथा इस कारण से सामाजिक व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न होता है। उदाहरण के तौर पर, उपनिवेशवादी समाजों में आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक संरचनाएं तो आधुनिकीकृत हो जाती है परन्तु वहाँ परोक्ष शासन की नीति सक्रिय रुप से परिवार, तथा स्थानीय राजनीतिक गतिविधियों में रुढ़िवादिता को बढ़ावा देती है। (उदा० रुढ़िवादी इस्लामिक परम्पराओं को बनाये रखना)। यह एक ऐसी परिस्थिति को जन्म देती है जिसमें नयी गतिविधियां तथा लक्ष्य विद्यमान परम्परागत प्रवृित्तयों तथा संस्थाओं के साथ संघर्ष की स्थिति में आ जाते है। यह इस लक्ष्य की ओर भी इंगित करता है कि आधुनिकीकरण की आरम्भिक अवस्था में हम प्रायः कुछ ऐसे धार्मिक आन्दोलनों का उदय देखते है जो कठोर, संयमी (ascetic) तथा इस (भौतिक) संसार के मूल्यों तथा विश्वासों पर आधारित होते हैं और परम्परागत सम्बन्धों व मूल्यों के तिरस्कार को वैधता प्रदान करते है परन्तु बाद में राष्ट्रीय राजनीतिक संरचनाओं तथा विचारधाराओं के माध्यम से एकीकरण के प्रयासों का विरोध करने लगते हैं।

यद्यपि स्मेलसर ने इस बात को माना है कि पूर्व–आधुनिक दशाओं में तथा परम्परागत संरचनाओं में अन्तर उस प्रभाव को आकार प्रदान कर सकते है जो आधुनिकीकरण की शक्तियाँ एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था पर डालती हैं। (तद्‌नुसार परिवर्तन के मार्ग में भिन्नता उत्पन्न करती हैं), उसका दावा है कि इस प्रकार का प्रारुप एक सामान्य आदर्शवादी विशेषताओं (ideal typical features) तथा सामाजिक विकास की प्रक्रियाओं को रेखांकित करता है।

आधुनिकीकरण पर होजोलिज के विचार

इस प्रकार के विचार न केवल स्मेलसर की रचनाओं में मिलते है अपितु अन्य लेखकों की कृतियों में भी पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए होजोलिज (1960) ने टॉलकॉट पारसन्स की प्रतिमान चरों की योजना को लागू करने का प्रयास किया है, जो आवश्यक रुप से स्मैलसर के विकास की प्रक्रिया के अध्ययन हेतु विकसित संरचनात्मक–विभेदीकरण के प्रारुप पर आधारित है। उनका तर्क है कि विकसित देशों की विशेषताएं–सार्वभौमिकता (universalism), अर्जित रुझान, प्रकार्यात्मक विशिष्टता (functional specificity), है तथा–अल्प विकसित (underdeveloped) देशों मे इनके विपरीत व्यैक्तिकता (Particularism), प्रदत्तता (ascription), तथा प्रकार्यात्मक व्यापकता (functional diffuseness) जैसी विशेषताएं पायी जाती हैं। स्मैलसर की भाँति होजोलिज ने भी परम्परागत समाज से आधुनिक समाज में रुपान्तरण को 'परम्परागत' प्रतिमान चरों के अपरिहार्य रुप से परिवर्तन के रुप में देखा है। अतः आधुनिकीकरण प्रकार्यात्मक रुप से व्यापक आर्थिक भूमिकाओं (जो अन्य राजनीतिक व धार्मिक भूमिकाओं से निकट रुप से संबद्व है) से प्रकार्यात्मक रुप से विशिष्ट भूमिकाओं में होने वाला संरचनात्मक परिवर्तन है जो अन्तःक्रिया से जुड़े व्यक्तियों की श्रेणी से परे घटित होता है। पारसन्स तथा होजोलिज ने इस रुपान्तरण को विभेदीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से घटित होते देखा है, जिसका वर्णन स्मैलसर ने किया है। राष्ट्रों के विकास में विभिन्नता की व्याख्या तब इन संरचनात्मक चरों की उपस्थिति या अनुपस्थिति तथा अर्जित आधुनिकीकरण की मात्रा को मापने हेतु निर्मित मानदण्डों के सन्दर्भ द्वारा की जा सकती है।

बाद के सिद्धान्तकारों में विशेष रुप से एस० एन० आइजेनस्टैड (S. N. Eisenstadt 1966 : 1970) ने 'परम्परागत' अथवा 'पूर्व–आधुनिक' समाजों को एक ही अवधारणा के अर्न्तगत रखे जाने

की समस्या को ध्यान में रखते हुए तथा उन सभी विभिन्न प्रक्रियाओं, जिनके द्वारा आधुनिकीकरण को प्रारम्भ किया जाना चाहिये, इस उपागम में संशोधन किये। उनके शब्दों मे "आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का उदय आदिवासी समाजों, जाति समाजों, विभिन्न प्रकार के किसान समाजों तथा पूर्व नगरीकरण के विभिन्न प्रकारों तथा विभिन्न मात्रा को धारण किये समाजों से हो सकता है। ये समूह आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक संसाधनों तथा योग्यताओं की दृष्टि से परस्पर भिन्न हो सकते हैं। इनमें समाज के उन विभिन्न भागों के मध्य पाने जाने वाले अधिक जटिल सम्बन्धों को नियन्त्रित करने की क्षमता में भी भिन्नता हो सकती है जो सामाजिक विभेदीकरण के परिचारक होते हैं तथा उन सीमाओं मे भी, जहाँ तक ये नये, विस्तृत सामाजिक ढांचे में स्वयं को एकीकृत होने करने की क्षमता अथवा इच्छा रखते है" (आइजेनस्टैड 1970:25)।

आधुनिकीकरण का एक अन्य पक्ष जिसको ध्यान मे रखने की आवश्यकता है– आधुनिकीकरण के प्रारम्भिक आवेग (impetus) की प्रकृति है। इसमें एक बड़ी सीमा तक भिन्नता पायी जा सकती है। कुछ अवस्थाओं में यह समाज के विभिन्न आन्तरिक समूहों द्वारा प्रदान किया जा सकता है जैसे–पश्चिमी यूरोप के प्रोटेस्टेंट उद्यमी समूह (वेबर, 1904) अथवा जापान का मेजी धनिक तन्त्र (Meiji oligarchs) (बेलाह, 1957)। परन्तु तीसरी दुनिया के देशों में यह प्रायः विभिन्न बाह्य शक्तियों के प्रभाव जैसे उपनिवेशवादी विस्तार तथा तकनीकी नवाचारों के विस्तार अथवा सांस्कृतिक आन्दोलनों के फलस्वरुप हुआ है। इसके अतिरिक्त कार्यरत कारकों के आधार पर हम यह अन्तर भी पाते हैं कि संरचनात्मक–विभेदीकरण तथा आदर्शों में परिवर्तन का प्रभाव सर्वप्रथम किन संस्थाओं पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त आइजेनस्टैड का मानना है कि विकास का क्रम तथा इसके मार्ग में आने वाली परेशानियाँ समाज के अधिक सक्रिय–अभिजनों (elites) द्वारा अपनायी गयी नीतियों तथा व्यूह–रचनाओं द्वारा महत्वपूर्ण रुप से प्रभावित होती है जिनकी आधुनिकीकरण को संस्थागत स्वरुप प्रदान करने में एक बड़ी भूमिका होती है। परिवर्तन के मार्गों तथा स्रोतों में भिन्नता की व्याख्या हेतु उन्होंने एक विस्तृत सामाजिक–ऐतिहासिक विश्लेषण की आवश्यकता पर बल दिया है। उन्होंने स्मैलसर तथा होजोलिज द्वारा आधुनिकीकरण की मूल विशेषताओं को न्यूनाधिक स्वीकारते हुए इस तर्क पर जोर दिया है कि आधुनिकीकरण केवल उस दशा में ही सतत रह सकता है, यदि समाज एक मात्रा तक संरचनात्मक–लचीलापन विकसित कर लेता है। जिसके कारण इसमें एक ऐसी क्षमता का विकास हो जाता है कि यह नयी परिवर्तित समस्याओं, का समाधान कर सकता है, तथा अपने संस्थागत क्षेत्र में नये सामाजिक समूहों तथा स्तरों को उनकी समस्याओं व मांगों सहित समाविष्ट कर लेता है। (1966:49)।

इस प्रकार उन्होंने 'विभेदीकरण' तथा 'एकीकरण' की अवधारणाओं में 'अनुकूलन' (adaptation) की तीसरी अवधारणा को सम्मिलित किया है कि परम्परागत् समाजों के विपरीत, आधुनिक अथवा आधुनिकीकृत समाज की संस्थागत संरचना कुछ इस प्रकार की होती है जो अपनी प्रारम्भिक प्रस्थापनाओं के परे होने वाले परिवर्तनों को समाविष्ट करने में तथा संरचनात्मक विस्थापनों (structural dislocation), प्रतिरोधी आन्दोलनों (protest movements) तथा विघटनीकरण (disorganization) के तत्वों के साथ समझौता कर लेने में समर्थ होती हैं। यद्यपि यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे कितनी व्यापक हैं तथा यह क्षमता सामाजिक व्यवस्था के प्रकार पर भी निर्भर करेगी, परन्तु एक दृढ़, अपेक्षाकृत स्थिर, राजनीतिक संरचना तथा वैचारिकी इसके लिए एक आवश्यक

पूर्वदशा जान पड़ती है। इसलिए आधुनिकीकरण एक नवीन, विस्तृत राजनीतिक तथा सामाजिक स्वरुप का संकेत देता है जिसकी पहचान के प्रतीक गैर–परम्परागत अर्थों में व्यक्त होते हैं तथा जिसका संस्थागत ढ़ाचा संकीर्ण स्थानीय इकाईयों को आर–पार से विच्छिन्न करते हुए अधिक सामान्य व सार्वभौमिक आधारों पर बल देता है।

विकास की मनोवैज्ञानिक व्याख्याः– मैक्लीलैंड का 'सफलता की आवश्यकता' (need for achievement) का सिद्धान्त

विकास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरकों (motives) तथा 'आन्तरिक कारकों' पर बल देती है जो कि आर्थिक वृद्वि की चालित शक्तियां (motor forces) मानी जाती है। इनमें से सबसे अधिक उपयुक्त मैक्लीलैंड का 'सफलता की आवश्यकता' का सिद्धान्त है। यद्यपि उन्होंने विकास की प्रक्रिया में 'बाह्य कारकों' तथा वस्तुपरक दशाओं के महत्व को नकारा नहीं है; परन्तु उनकी रुचि उन मानवीय मूल्यों तथा अभिप्रेरकों (values and motives) में है जो उन्हें अवसरों का लाभ उठाने के लिए, तथा उपयुक्त व्यापार दशाओं का लाभ लेने के लिए प्रेरित करती है अथवा संक्षिप्त में उन्हें अपना भाग्य निर्धारण करने देती है।

इसका अध्ययन करने के लिए मैक्लीलैंड ने अन्तर्वस्तु विश्लेषण की एक विधि को विकसित किया। इसके लिए उन्होंने व्यक्तियों की लिखित कल्पनाओं (बच्चों की कहानियों सहित) में आने वाले कुछ निश्चित विषयों की आवृत्तियों की गणना के आधार पर कुछ ऐसे अभिप्रेरकों (motives) को पृथक करने में सफलता प्राप्त की जो उन व्यक्तियों के विषय में बताते है। इनमें से उन्होंने 'सफलता हेतु आवश्यकता' (n-achievement) की खोज की जिसे उन्होंने "कुछ अच्छा करने की" इच्छा के रुप में परिभाषित किया है जो मात्र सामाजिक सम्मान अथवा मान्यता प्राप्त करने हेतु न होकर व्यक्तिगत सफलता प्राप्त करने के लिए होती है" (D. Mcclelland 1966:74)।

मैक्स वेबर के प्रोटेस्टेंट आचार संहिता तथा पूंजीवाद की आत्मा' के मध्य सम्बन्ध से प्रारम्भ करके मैक्लीलैंड इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जिसे वेबर 'पूंजीवाद की आत्मा' कहता है वह यह विशिष्ट 'अच्छा करने की इच्छा' होनी चाहिये तथा इस प्रकार प्रोटेस्टेंट व्यापार उद्यमियों में एक उच्च स्तरीय एन–एचीवमेंट (सफलता हेतु आवश्यकता) होना चाहिये था। इसलिए यूरोपीय प्रोटेस्टेंट देशों में 'एन–एचीवमेंट' की भारी मात्रा तथा तीव्र आर्थिक विकास के मध्य सम्बन्ध है। इस उपकल्पना को ध्यान में रखते हुए मैक्लीलैंड ने यह दर्शाने हेतु प्रमाण एकत्रित करने प्रारम्भ किये कि यह सम्बन्ध एक सामान्य प्रकार का है, जो न केवल यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में सत्य है अपितु आधुनिक जापान या प्राचीन ग्रीस के सम्बन्ध में भी सत्य है। उदाहरण के तौर पर उन्होंने पाया कि 'एन–एचीवमेंट' का स्तर एथिनियन ग्रीस में आर्थिक विकास के चरम बिन्दु से पूर्व के वृद्विकाल में उच्चतम था तथा उस उच्चतम सम्पन्नता के काल तक पहुँचते–पहुँचते इस उच्च स्तर में गिरावट आ गयी जो एक तरह से आगे होने वाली आर्थिक गिरावट की भविष्यवाणी करता है। उन्होंने इसी प्रकार के सह–सम्बन्ध 16वीं शताब्दी के स्पेन के प्रकरण में, 16वीं शताब्दी तथा 1800 में इंग्लैंड तथा समकालीन प्राथमिक समाजों में भी पाये जाते हैं। परन्तु इन समाजों में आर्थिक विकास का मापन किस प्रकार से किया जाये, इस समस्या का निदान उन्होंने वहाँ पाये जाने वाले 'व्यापारी–उद्यमियों' की संख्या की गणना के द्वारा किया। जिनको उन्होंने इस प्रकार से

परिभाषित किया है– "ऐसा कोई भी व्यक्ति जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण हो तथा वह अपनी उपभोग–क्षमता से अधिक उत्पादन का व्यक्तिगत अथवा गृह आय के लिए विक्रय करता हो।

इस अवधारणात्मक प्रारुप के आधार पर 1925 से 1940 के मध्य कोई 40 देशों के एन–एचीवमेंट का मापन बाल कहानियों तथा विद्युत–उत्पादन की मात्रा के आधार पर किया। यहाँ पर उन्होंने 'विद्युत–उत्पादन की मात्रा' को आर्थिक वृद्धि के संकेतक के रुप में किया। उन्होंने इनमें पुनः एक उच्च सांख्यकीय सह–सम्बन्ध पाया। ऐसे देश जिनमें एन–एचीवमेंट की मात्रा उच्च थी वे न केवल संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रुस थे अपितु इनमें टर्की, भारत, पाकिस्तान, बुल्गारिया, पुर्तगाल, तथा ग्रीस भी सम्मिलित थे तथा उन देशों में जिनमें एन–एचीवमेंट निम्न था तथा जिनकी आर्थिक वृद्धि अपेक्षा से कम थी उनमें न्यूजीलैडं, नार्वे, स्वीडन, इटली, डेनमार्क, बेल्जियम, नीदरलैडं तथा जापान थे।

होजोलिज व शुम्पीटर से सहमति व्यक्त करते हुए मैक्लीलैंड ने इस विचार को अग्रेषित किया कि 'एन–एचीवमेन्ट' तथा आर्थिक वृद्धि के मध्य की कड़ी व्यापार उद्यमी हैं। उद्यमी को अन्य व्यक्तियों से पृथक करने वाली विशेषता यह है कि वह थोड़ा जोखिम लेने तथा नवाचारों को अपनाने के लिए तैयार रहता है यद्यपि उसका व्यवहार एक जुआरी की तरह नहीं होता अपितु उसके निर्णय तर्क तथा सटीक सूचनाओं पर आधारित होते है। इस प्रश्न पर कि कुछ समाजों में ही क्यों 'एन–एचीवमेन्ट' देखने को मिलते है, अन्य में नहीं, उनका तर्क है कि 'कुछ अच्छा करने की अभिप्रेरणा' आनुवांशिक या नैसर्गिक लक्षण नहीं होता अपितु उसे बाल्यकाल की प्रारम्भिक अवस्था में प्राप्त किया जाता है। उन्होंने पाया कि वे बालक जिन्हें आत्मनिर्भरता तथा सफलता की शिक्षा दी जाती है उनमें "अच्छा करने की अभिप्रेरणा' विकसित हो जाती है। प्राधिकारवादी तथा हस्तक्षेप करने वाले परिजनों के बालकों में इसके विपरीत परिणाम आते हैं। इसका अर्थ है कि किसी भी देश में एन–एचीवमेंट को शिक्षा द्वारा विकसित किया जा सकता है। जिससे अधिक से अधिक बालक 'उद्यमिता आवेग' (enterpreneurship) को प्राप्त कर सकें।

रास्तॉव की आर्थिक वृद्धि की अवस्थाएं

कुछ सिद्धान्तकारो की दृढ़ मान्यता है कि समाजों की ऐतिहासिक प्रगति सदैव ही सरल, अविभेदीकृत व्यवस्थाओं की दिशा में हुई है। इनमें से सबसे अधिक जटिल व्यवस्था आधुनिक औद्योगिक समाज में पायी जाती है। इसके अतिरिक्त ये सिद्धान्तकार एकस्थीकरण सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए भी बाध्य हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी औद्योगिक समाज राजनीतिक विचारधारा से परे एक ही प्रकार के सामाजिक संगठन को अपनाने के लिए बाध्य हैं अर्थात उनकी राजनीतिक विचारधारा चाहे जैसी भी हो परन्तु उनका सामाजिक संगठन एक जैसा ही होगा। इस प्रकार से विकासवादी प्रगति को एक ऐसी प्रक्रिया के रुप मे देखा जा सकता है जिसके माध्यम से आधुनिक औद्योगिक समाज की विशेषताओं को प्राप्त किया जाता है। वस्तुतः विकासवादी सिद्धान्त का एक मूल भाग यह विश्वास है कि तृतीय विश्व में परम्परागत सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक संरचनाएं प्रभावकारी आर्थिक योजनाओं की अभिवृद्धि को रोकती हैं तथा ऐसा दावा किया गया हैं कि ये समाज केवल उसी दशा मे विकसित हो पायेंगे यदि इनकी प्रगति के मार्ग में आने वाली इन बाधाओं को दूर कर दिया जाये। आर्थिक दृष्टि से विकासवादी उपागम इस मान्यता पर आधारित है किः "that a free market economy compounded by an entrepreneurial enterprise

culture will bring about a major take-off into growth'." (एक ऐसी मुक्त बाजारु आर्थिक व्यवस्था, जो साहसिक उद्यमिता संस्कृति से जुड़ी हुई हो, 'अभिवृद्वि की दिशा में उड़ान' लेने की स्थिति में जायेगी)।

इस परिप्रेक्ष्य (दृष्टिकोण) का अनुसरण करने वाले (आधुनिकीकरण उपागम का प्रतिपादन करने वाले) सिद्धान्तकारों का दावा है कि उन समाजों में गरीबी तथा अल्पविकास की अवस्था इसलिए है क्योंकि इनमें औद्योगिक व्यवस्था को लाने के अनुरुप आंतरिक संरचनात्मक विशेषताओं का अभाव है। इन गरीब देशों में अविद्यमान इन विशेषताओं में निवेश पूंजी (investment capital) तथा उद्यमिता मूल्य (entrepreneurial values) के साथ–साथ आधुनिक तकनीकी उपकरणों तथा उनका प्रभावकारी ढ़ंग से उपयोग करने के लिए आवश्यक कौशल भी सम्मिलित हैं। इसके बाद यह भी सुझाव दिया जाता है कि अल्प विकसित समाजों की इन अक्षमताओ को प्रगतिशील देशों के साथ अन्तःक्रिया के माध्यम से परिवर्तित किया जा सकता है।

कई आधुनिकीकरणवादी सिद्धान्तकारों ने उन उपायों को सुझाया है जिनसे तीसरी दुनिया के सरल कृषक समाजों में उत्पादन की औद्योगिक प्रणाली को स्थापित करने में सहायता की जा सकती है। इन सिद्धान्तकारों मे सबसे प्रमुख नाम डब्ल्यू. डब्ल्यू. रास्तॉव (W. W. Rostow) का आता है जो एक अमेरिकी अर्थशास्त्री है। इनकी पुस्तक *The Stages of Economic Growth: A Non-Communist Menifesto* है जो सन् 1969 में प्रकाशित हुई थी। इन्होंने इस पुस्तक में सामाजिक परिवर्तन के उन प्रतिमानों का परीक्षण किया है जिन्होंने हमें ऐतिहासिक रुप से आधुनिक औद्योगिक समाजों की दिशा में अग्रसर किया है। तकनीकी को प्रगति की कुंजी के रुप में पृथक करते हुए उन्होंने 'आर्थिक अभिवृद्वि का विवरण' देने का प्रयास किया है जो उत्पादन के गतिशील सिद्धान्त पर आधारित है तथा इसकी व्याख्या वास्तविक समाजों के सन्दर्भ में की गयी है। रॉस्तॉव के इस सिद्धान्त को पश्चिमी औद्योगिक देशों के विद्वानों तथा राजनीतिज्ञों के बीच समान रुप से स्वीकारा गया है। रॉस्तॉव के इस सिद्धान्त में प्रगति को निम्न पाँच अवस्थाओं में निरुपित किया गया है: प्रथम अवस्थाः परम्परागत समाज (The traditional society); द्वितीय अवस्थाः उड़ान के पूर्व की दशाएं (The pre-conditions for take off); तृतीय अवस्थाः आर्थिक अभिवृद्वि की दिशा में उड़ान (take-off into economic growth); चतुर्थ अवस्थाः परिपक्वता की ओर ले जाना (The Drive to maturity); तथा पंचम अवस्थाः जन–उच्च उपभोक्तावाद का युग (The age of high mass consumption)।

प्रथम अवस्थाः परम्परागत समाज

इस अवस्था में समाज विपन्न अवस्था में होता हैं। कृषि की अवस्था केवल निर्वाहकारी होती है। इस सरल तथा अविभेदीकृत व्यवस्था के रुप में संगठित समाज मे धर्म तथा आध्यात्मिक विद्याओं की प्रमुख भूमिका होती है। रॉस्तॉव के अनुसार "परम्परागत समाज वह है जिसकी संरचना सीमित उत्पादन के साधनों के अर्न्तगत विकसित होती है। इसकी उत्पादन प्रणाली न्यूटन से पहले के विज्ञान और तकनीकी पर आधारित होती है तथा भौतिक जगत के न्यूटन से पूर्व की प्रवृत्तियाँ इस समाज में प्रमुख स्थान रखती हैं। परन्तु परम्परागत समाज की यह अवधारणा किसी भी अर्थ में स्थिर नहीं है तथा यह उत्पादन में वृद्वि की सम्भावना को नकारती नहीं है, प्रति एकड़ उत्पादन की दर में वृद्वि हो सकती है, कुछ अस्थायी तकनीकी अन्वेषण तथा प्रायः अधिक उत्पादन करने वाले नवाचार व्यापार, उद्योग तथा कृषि के क्षेत्र में विकसित किये जा सकते है। सिंचाई के साधनों

एक नयी फसल की खोज व उसके प्रसार द्वारा उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है। परन्तु परम्परागत समाज के बारे मे केन्द्रीय तथ्य यह रहा है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन की दर एक स्तर पर आकर रुक जाती थी। इस स्थिरता का प्रमुख कारण यह था कि आधुनिक विज्ञान तथा तकनीकी के माध्यम से उत्पन्न सम्भावनाएं या तो उपलब्ध ही नहीं थी अथवा नियमित एवं व्यवस्थित रुप से लागू नहीं की गयीं थी।

इस प्रकार अतीत और वर्तमान दोनों ही कालों में परम्परागत समाजों की कहानी एक अन्तहीन परिवर्तन की कहानी है। इन समाजों में राजनीतिक और सामाजिक अशान्ति की मात्रा, केन्द्रीय शासन की क्षमता, सड़कों के रख–रखाव के साथ–साथ व्यापार की मात्रा व क्षेत्र में परिवर्तन होते रहते थे। जनसंख्या के साथ–साथ कुछ सीमा तक जीवन–स्तर में भी उतार–चढ़ाव न केवल अनाज काटने के समय–क्रम पर निर्भर करता था अपितु युद्ध तथा प्लेग जैसी बीमारियों पर भी निर्भर था। दस्तकारी की भिन्न मात्राओं का विकास तो हुआ परन्तु कृषि की भाँति इसमें भी उत्पादन का स्तर आधुनिक विज्ञान तक पंहुच न होने के कारण सीमित ही रहा।

सामान्य रुप से यह कहा जा सकता है कि उत्पादकता सीमित होने के कारण इन समाजों को अपने संसाधनों का बड़ा भाग कृषि मे लगाना पड़ा तथा कृषि व्यवस्था ने एक संस्तरित सामाजिक संरचना को जन्म दिया जिसमें उर्ध्व गतिशीलता (vertical mobility) की अपेक्षाकृत कम सम्भावनाएं थी। परिवारिक तथा वंश सम्बन्धों की दूसरे सामाजिक संगठन में भूमिका अधिक थी इन समाजों की मूल्य व्यवस्था दीर्घकालिक भाग्यवाद पर आधारित थी। अतः यह मान्यता सही है कि दो–तीन पीढ़ियों के अन्तराल में भी सम्भावनाओं के क्षेत्र मे कोई अन्तर नही आता था। परन्तु इस भाग्यवाद ने लघु–कालिक अवसरों की सम्भावनाओं को समाप्त नहीं किया था तथा अपने जीवन काल में व्यक्ति को अपने भाग्य में सुधार करने की सम्भावना थी तथा इसे वैधानिक मान्यता प्राप्त थी।

यद्यपि इन परम्परागत समाजों मे एक केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता का किसी न किसी रुप में अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर क्षेत्रों मे अतिक्रमण था परन्तु राजनीतिक शक्ति का प्रमुख केन्द्र उन क्षेत्रों में अथवा उन हाथों में होता था जो भूमि पर स्वामित्व अथवा नियन्त्रण रखते थे। भू–स्वामियों का इस प्रकार की राजनीतिक शक्ति पर महत्वपूर्ण प्रभाव रहता था यद्यपि उसमें भी उतार–चढ़ाव देखे जा सकते थे। इस प्रभाव का माध्यम शासकीय कर्मचारियों तथा सैनिकों के समर्थन से होता था; जो उनकी प्रवृत्तियों से प्रभावित तथा क्षेत्रों के हितों से नियन्त्रित होते थे।

इतिहास के दृष्टिकोण से हम 'परम्परागत समाज' के अर्न्तगत विश्व के उन सभी समाजों को रख सकते है जो न्यूटन से पहले अस्तित्व में थे; जैसे चीन का राजवंश, मध्य–पूर्व तथा भूमध्य सागर के क्षेत्र की सभ्यताएं; मध्य युग का यूरोप। इनमें हम न्यूटन के बाद के उन समाजों को भी सम्मिलित कर सकते है जो एक समय तक मनुष्य द्वारा अधिक लाभ के लिए अपने पर्यावरण को नियमित रुप से नियन्त्रित करने की नवीन क्षमताओं से अछूते रहे अथवा वंचित रहे हैं।

इस प्रकार के सभी समाजों को एक ही श्रेणी मे रखने का आधार यह है कि इन सभी में आर्थिक तकनीकी के कारण उत्पादकता का स्तर एक सीमा तक सीमित रहा है। यद्यपि यह एक बहुत ही सीमित आधार है।

द्वितीय अवस्थाः उड़ान से पूर्व की दशाएं

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में तथा 18वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में पश्चिमी यूरोप में उड़ान से पूर्व की दशाएं विकसित हुई थीं। जब आधुनिक विज्ञान से प्राप्त अर्न्तज्ञान का उपयोग कृषि तथा उद्योग के क्षेत्रों में नवीन उत्पादन कार्यो में परिवर्तन हेतु किया जाने लगा जिसके फलस्वरुप समाज को एक गत्यात्मकता (dynamism) प्राप्त हुई क्योंकि इसने एक विश्व बाजार तथा अर्न्तराष्ट्रीय प्रतिस्पध ार्ा को जन्म दिया। परन्तु मध्य युग की समाप्ति से पहले की परिस्थितियां पश्चिमी यूरोप में उड़ान के पूर्व की दशाओं की उत्पत्ति के लिए महत्वपूर्ण रही है। पश्चिमी यूरोप के राज्यों में अपनी भौगोलिक, प्राकृतिक संसाधनों, व्यापार की सम्भावनाओं, सामाजिक व राजनीतिक संरचना की अनुकूलता के कारण ब्रिटेन वह पहला राज्य था जहाँ उड़ान के पूर्व की दशाएं पूर्णरुप से विकसित हो गयी थीं।

आधुनिक इतिहास में पाये जाने वाले सामान्य उदाहरणों में यह देखा गया है कि उड़ान की पूर्व दशाएं आन्तरिक रुप से उत्पन्न न होकर अधिक प्रगतिशील समाजों के बाहर से बलात् प्रवेश से उत्पन्न हुई हैं। इन आक्रमणों (साहित्यक अथवा आलंकारिक) से परम्परागत समाज को धक्का पहुँचा तथा इनके विनाश का प्रारम्भ हुआ, परन्तु इन्होंने उन विचारों व भावनाओं का संचार भी किया जिन्होंने एक ऐसी प्रक्रिया को प्रारम्भ किया जो इन परम्परागत समाजों के एक आधुनिक विकल्प की रचना प्राचीन संस्कृति से कर सके।

इससे न केवल यह विचार फैला कि आर्थिक प्रगति सम्भव है अपितु यह भी कि आर्थिक प्रगति कुछ अन्य उद्देश्यों के लिए भी आवश्यक है, जो कि अच्छे माने गये है। चाहे यह राष्ट्रीय सम्मान हो, अथवा निजी लाभ अथवा सामान्य कल्याण अथवा बच्चों के लिए बेहतर जीवन की आकांक्षा हो। शिक्षा का कम से कम कुछ लोगों के लिए विस्तार होता है तथा यह आधुनिक आर्थिक गतिविधि की आवश्यकताओं के अनुरुप अपने स्वरुप में परिवर्तन कर लेती है। नवीन प्रकार के उद्यमी व्यक्ति निजी एवं सरकारी दोनों ही क्षेत्रों मे आगे आते है जो बचत को बढ़ाने तथा लाभकारी कार्यों अथवा आधुनिकीकरण के कार्यो मे जोखिम उठाने के इच्छुक होते है। पूंजी निवेश की प्रक्रिया को गतिशील करने के लिए बैंक तथा अन्य वित्त संस्थाओं का जन्म होता है। निवेश की मात्रा में वृद्धि होती है, विशेष रुप से यातायात, संचार तथा उस कच्चे माल के क्षेत्र में, जिससे दूसरे देशों के आर्थिक हित जुड़े हो। आंतरिक व बाह्य वाणिज्य का विस्तार होता है तथा यहाँ–वहाँ नवीन प्रणालियों का उपयोग कर आधुनिक उत्पादन करने वाले उद्यमों का जन्म होता है। परन्तु ये सभी गतिविधियाँ एक आर्थिक व्यवस्था के अर्न्तगत एक बहुत धीमी गति से आगे बढ़ती हैं तथा समाज की पहचान तभी भी प्रमुख रुप से परम्परागत निम्न–उत्पादकता वाली प्रणालियों से, प्राचीन सामाजिक संरचना तथा मूल्यों से तथा क्षेत्रीयता पर आधारित राजनीतिक संस्थाओं से होती है जो इनके सम्पर्क से विकसित होती हैं। राजनैतिक रुप से, एक प्रभावशाली केन्द्रीय राष्ट्र का निर्माण पूर्वदशा–काल का एक निर्णायक पक्ष था तथा यह सार्वभौमिक रुप से उड़ान के लिए एक आवश्यक दशा भी थी।

तृतीय अवस्था– उड़ान की अवस्था (The Take-off)

अब हम आधुनिक समाजों के जीवन में आने वाले एक बड़े मोड़ पर अर्थात इस क्रम की तीसरी अवस्था उड़ान की अवस्था पर आते है। उड़ान की अवस्था एक ऐसी मध्य अवस्था है जब ठोस अभिवृद्धि के मार्ग में आने वाली पुरानी बाधाओं एवं प्रतिरोधों पर पूरी तरह से नियन्त्रण कर लिया

जाता है। आर्थिक प्रगति की दिशा में कार्य कर रही शाक्तियों का विस्तार होता है तथा समाज में इन का प्रभुत्व स्थापित होने लगता है।

उड़ान की अवस्था के अर्न्तगत नवीन उद्योगों का तेजी से विस्तार होता है जिसके फलस्वरुप भारी मात्रा में लाभ होता है। इसका एक बड़ा भाग नयी परियोजना में पुनः निवेशित कर दिया जाता है। इसके बदले में ये नये उद्योग फैक्टरी श्रमिकों के लिए अपनी तेजी से बढ़ रही आवश्यकताओं के माध्यम से उनको समर्थन करने के लिए सेवाओं को प्रेरित करते है तथा दूसरी उत्पादक वस्तुओं के लिए नगरीय क्षेत्रों में तथा अन्य आधुनिक परियोजनाओं में और अधिक विस्तार की सम्भावनाएं उत्पन्न करते हैं। आधुनिक क्षेत्र में विस्तारीकरण की पूरी प्रक्रिया उन लोगों की आय में वृद्वि करती है जो न केवल उच्च्व दर पर बचत करते हैं अपितु अपनी बचत को आधुनिक क्षेत्र में होने वाली गतिविधि ायों में लगी संस्थाओं में निवेशित करते हैं। उद्यमियों के एक नये वर्ग का विस्तार होता है; तथा यह निजी क्षेत्र मे पूंजी निवेश के बढ़ते प्रवाह को दिशा प्रदान करता है। आर्थिक व्यवस्था अभी तक अप्रयुक्त प्राकृतिक संसाधनों तथा उत्पादन की विधियों का भरपूर उपयोग करती है।

कृषि के साथ–साथ उद्योग के क्षेत्र में भी नवीन तकनीकों का विस्तार होने लगता है। कृ षि का बाजारीकरण होने लगता है तथा अधिक से अधिक किसान नवीन् तरीकों को अपनाने के लिए तैयार हो जाते हैं तथा उनकी जीवन शैली में भी गहन परिवर्तन आने लगता हैं। कृषि –उत्पादकता में क्रान्तिकारी परिवर्तन सफल उड़ान के लिए एक आवश्यक परिस्थिति हैं। समाज का आधुनिकीकरण करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि उत्पादों पर होने वाले खर्च में भारी वृद्धि हो। एक या दो दशक के मूलभूत संरचना के साथ–साथ सामाजिक और राजनीतिक संरचना भी इस प्रकार रुपान्तरित हो जाती है कि इसके पश्चात् आर्थिक अभिवृद्धि की एक अपरिवर्ती दर को नियमित रूप से बनाये रखा जा सकता है।

चतुर्थ अवस्था–परिपक्वता की ओर प्रस्थान (The Drive to Maturity)

उड़ान की अवस्था के पश्चात् स्थिर अभिवृद्वि का एक लम्बा काल आता है। अब नियमित रूप से प्रगति कर रही आर्थिक व्यवस्था अपनी आर्थिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में आधुनिक तकनीकी का विस्तार करती है। राष्ट्रीय आय के करीब 10 से 12 प्रतिशत भाग का दृढ़तापूर्वक निवेश इस बात को निश्चित करने के लिए किया जाता है कि जनसंख्या में होने वाली वृद्धि से उत्पन्न पिछड़ेपन को नियमित रुप से उत्पादन बढ़ाकर दूर किया जा सके। तकनीकी में सुधार के साथ–साथ आर्थिक व्यवस्था के स्वरुप में भी निरन्तर परिर्वतन होता रहता है तथा नवीन उद्योगों के विकास की गति तीव्र होती है तथा पुराने उद्योगों का पतन होने लगता है। आर्थिक व्यवस्था, अर्न्तराष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था में अपना एक स्थान बना लेती हैः पूर्व में आयात की जा रही वस्तुओं का उत्पादन अपने ही देश में होने लगता है; आयात की नवीन आवश्यकताओं का विकास होने लगता है तथा उनके अनुरुप निर्यात की जा सकने वाली वस्तुओं का उत्पादन होने लगता है। समाज मे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाती हैं जो आधुनिक प्रभावशाली उत्पादन की आवश्यकताओं के अनुकूल हों तथा पुराने मूल्यों व संस्थाओं का नये मूल्यों व संस्थाओं के साथ सन्तुलन स्थापित करने में सक्षम हों अथवा पुराने मूल्यों व संस्थाओं को इस प्रकार से संशोधित करते हों जिससे वे आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्व करने के स्थान पर उसका समर्थन करने लगें।

उड़ान की अवस्था प्रारम्भ होने के साठ वर्ष पश्चात् अथवा इसकी समाप्ति के 40 वर्ष बाद परिपक्वता की अवस्था को सामान्यत प्राप्त कर लिया जाता है। उड़ान की अवस्था में अर्थ–व्यवस्था,

जो अपेक्षाकृत रुप से उद्योग व तकनीकी के एक संकीर्ण दायरे में केन्द्रित थी, अब अपने क्षेत्र का विस्तार अधिक परिष्कृत तथा तकनीकी रुप से अधिक जटिल प्रक्रियाओं की ओर करती है; उदाहरण के लिए रेलवे उद्योग की अवस्था में, कोयला, लोहा तथा भारी इंजीनियरिंग उद्योग से मशीनी–उपकरणों, रसायनिकों तथा विद्युत उपकरणों की ओर एक ऐसा परिवर्तन था जिससे 19वीं शताब्दी के अन्त में अथवा उसके तुरन्त बाद जर्मनी, ब्रिटेन, फ्राँस, तथा संयुक्त राज्य अमेरिका गुजर चुके हैं। औपचारिक रुप से परिपक्वता की अवस्था को एक ऐसी स्थिति के रुप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें अर्थव्यवस्था उन मूल उद्योगों से आगे जाने की क्षमता को प्रदर्शित करती है जिन्होंने इसकी उड़ान को शक्ति प्रदान की थी तथा अपने असीमित संसाधनों का प्रभावकारी ढंग से उपयोग करने लगती है। यदि सभी संसाधनो का पूरा उपयोग नहीं भी कर पाती है तो भी आधुनिक तकनीकी के सबसे अधिक स्वादिष्ट फलों का स्वाद तो प्राप्त कर ही लेती है।

पंचम अवस्थाः उच्च जन–उपभोक्तावाद का युग (Stage V: The Age of High Mass-consumption)

अब हम उच्च जन–उपभोक्तावाद के युग में प्रवेश करते हैं जहाँ शीघ्र ही प्रमुख क्षेत्र चिर–स्थायी उपभोक्ता सामग्री तथा सेवाओं की ओर उन्मुख होते है। जैसे–जैसे समाजों ने 20वीं शताब्दी में परिपक्वता की अवस्था को प्राप्त किया दो प्रमुख घटनाएं घटित हुईः

(१) प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में एक ऐसे बिन्दु तक वृद्धि हुई जहाँ एक बड़ी संख्या में लोगों ने उपभोग पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया तथा जिसने उपभोग को भोजन, आवास तथा वस्त्र की मूल आवश्यकताओं से और आगे बढ़ाया;

(२) श्रम शक्ति की संरचना भी परिवर्तित हुई। न केवल पूरी जनसंख्या में नगरीय जनसंख्या के अनुपात में वृद्धि हुई अपितु कार्यालयों मे काम करने वाली अथवा फैक्टरी में अभ्यस्त व्यवसाय करने वाले श्रमिकों की जनसंख्या के अनुपात में भी वृद्धि हुई। ये वर्ग परिपक्व आर्थिक व्यवस्था के उपभोगीवादी फलों को प्राप्त करने के प्रति जागरुक होने के साथ–साथ उत्सुक भी थे।

इन आर्थिक परिवर्तनों के अतिरिक्त समाज में आधुनिक तकनीकी को आक्रमणकारी उद्देश्य के रुप में स्वीकार करना समाप्त हो गया। परिपक्वता के बाद की इस अवस्था में; उदाहरण के लिए, पश्चिमी समाजों ने राजनीतिक प्रक्रिया के माध्यम से सामाजिक कल्याण तथा सुरक्षा के लिए अधिक संसाधन उपलब्ध कराने का मार्ग चुना। कल्याणकारी राज्य का उदय समाज के तकनीकी परिपक्वता से आगे की ओर बढ़ने को प्रकट करता है। परन्तु इसी अवस्था में यह भी होता है कि संसाधनों का अधिकाधिक उपयोग उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन तथा बड़े पैमाने पर सेवाओं के विस्तार में किया जाता है। सिलाई मशीन, साईकिल तथा इसके बाद विभिन्न घरेलू विद्युत उपकरणों का धीरे–धीरे विस्तार हुआ। यद्यपि ऐतिहासिक रुप से इसमें सस्ते आटोमोबाइल वाहनों की सामाजिक जीवन और अपेक्षाओं पर पड़ने वाले क्रान्तिकारी प्रभावों सहित निर्णायक भूमिका रही। संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए निर्णायक अवस्था शायद हेनरी फोर्ड द्वारा (1913–1914) में लिए गये कदम थे; परन्तु 1920 के दशक तथा बाद में विश्वयुद्ध के बाद के दशक (1946–1956) में विकास की इस अवस्था को प्राप्त किया गया। 1950 के दशक में पश्चिमी यूरोप तथा जापान ने पूर्ण

रुप से इस अवस्था को प्राप्त किया। सोवियत संघ भी तकनीकी रुप से इस अवस्था के लिए तैयार है तथा इसके नागरिक हर प्रकार से इसे प्राप्त करने को उत्सुक भी हैं; परन्तु कम्यूनिस्ट नेताओं को कठिन राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का सामना करना होगा यदि वे इस ओर आगे बढ़ते है।

रास्तॉव ने यह बताया है कि उसके विचार से सरल व परम्परागत समाजों के आधुनिक औद्योगिक उत्पादन व्यवस्थाओं में परिवर्तित होने की प्रक्रिया में दो प्रमुख कारक सन्निहित हैं। प्रथम स्थान पर वह गैर–आर्थिक कारकों (non-economic factors) जैसे विचार तथा प्रवृत्तियों को रखता है जिसमें उद्यमितावादी मूल्यों को स्वीकार करना सम्मिलित है। इसके द्वारा नवीन अभिजन वर्ग का नेतृत्व उत्पन्न होता है तथा एक आधुनिक औद्योगिक समाज के निर्माण की सम्भावना जन्म लेती है तथा प्रोटेस्टेन्ट आचार संहिता किसी भी प्रकार से आधुनिकीकरण के लिए विशिष्ट रुप से अनुरुप नहीं हैं। नये अभिजन वर्ग के सदस्य आधुनिकीकरण को एक सम्भव कार्य मानते है जो उन उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक है जिन्हें वे नैतिक रुप से सही अथवा लाभकारी मानते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह नवीन अभिजन वर्ग एक सीमा तक पुराने भू–स्वामियों के अभिजन वर्ग से सामाजिक तथा राजनीतिक सत्ता की दौड़ में आगे निकल जाता है। यहाँ रॉस्तॉव ने इस बात की वकालत की है कि अल्प विकसित समाजों में प्रगतिशील समाजों के प्रमुख मूल्यों (उद्यमितावाद, प्रतिस्पर्धा, व्यक्तिवाद आदि) का प्रचार करना चाहिये। इसका एक तरीका यह हो सकता है कि ऐसे समाजों के बड़े–बड़े जनसंख्या केन्द्रों में ऐसे स्थानीय अभिजनों को प्रतिरोपित किया जाये जो उन नागरिकों में से हो जिन्होंने प्रगतिशील समाज की मूल्य–व्यवस्था को अपना लिया है। एक बार यदि ऐसे समूह को समाज में स्थापित करके उस पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया जाये तो अन्य संस्थाओं व संगठनों को स्थापित करना अपेक्षाकृत सरल कार्य है। रास्तॉव ने अपने इस प्रारुप में कुछ आर्थिक कारकों का भी जिक्र किया है जो उसके विचार से इस परिवर्तन के लिए आवश्यक हैं। इन कारकों को उसने दो श्रेणियों में रखा है:

(1) लोगों को अपने धन को दीर्घकाल के लिए, उच्च जोखिम पर नवीन उद्यमों को बढ़ावा देने के लिए तैयार रहना चाहिये। उन्हें अपने धन को आधुनिक उद्योगों में लगाना चाहिये;

(2) कृषि का उपयोग अधिक से अधिक खाद्यान्न की आपूर्ति के लिए किया जाना चाहिये। खाद्यान्न की आवश्यकता जनसंख्या के बढ़ने से उत्पन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होगी, साथ ही अकाल अथवा विदेशी मुद्रा के समाप्त होने की सम्भावना को समाप्त करने के लिए भी इसकी आवश्यकता है।

रॉस्तॉव तथा अन्य विकासवादी सिद्धान्तकारों के अनुसार अल्प–विकसित समाजों की अपेक्षाकृत गरीबी, उत्पादन की नवीन औद्योगिक विधियों के विकास के लिए निवेश की जाने वाली आवश्यक पूंजी के उपलब्ध न होने से उत्पन्न हुई है। इन गरीब देशों की जनता उस पूंजी को स्वयं उत्पन्न करने में अक्षम है। अतः रॉस्तॉव की मान्यता है कि आर्थिक अभिवृद्धि के लिए आवश्यक प्रेरणा तथा आधार प्रदान करने के लिए विकसित देशों को इन देशों में अपनी पूंजी का निवेश करना चाहिये। इस प्रकार की अभिवृद्धि से उत्पन्न सम्पदा सम्पूर्ण गरीबी को दूर करेगी तथा आगे के विकास के मार्ग को प्रशस्त करते हुए समाज की आर्थिक प्रगति को और बढ़ावा देगी। रॉस्ताव के विचार से विकासशील देशों में कृषि के क्षेत्र से पूंजी का कुछ भाग उत्पन्न होने की सम्भावना तो है परन्तु उसे यह भय है कि इससे क्षमता के उस आवश्यक स्तर को प्राप्त नहीं किया जा सकेगा जो

कि औद्योगीकरण के मार्ग पर चल कर प्राप्त किया जा सकता है। उसने सरल सामाजिक संरचना से जटिल औद्योगिक स्वरुप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया में पूंजीवादी उपकरणों तथा तकनीकी के महत्व पर बल दिया है। परन्तु फिर भी वह यह स्पष्ट नही करता कि विकासशील देशों मे पूंजी तथा तकनीकी कौशलों का विस्तार किस प्रकार से किया जाये। यह भी स्पष्ट नही है कि विकसित देश अपनी पूंजी को दान के रुप में देंगे अथवा ऋण के रुप में। आधुनिकीकरणवादी सिद्धान्त कारों ने तीसरी दुनिया के देशों मे आर्थिक अभिवृद्धि को बढ़ावा देने के जोश में औद्योगिकीकरण की आवश्यकता पर बल दिया है। ऐसा करने में उन्होंने एक ऐसा अमूल्य आधार प्रदान किया है जिस पर विकसित विश्व के राजनेता तथा कोषाध्यक्ष अपनी असली वैचारिक उद्देश्य को छिपाकर उन देशों मे अपना आश्रय स्थल बना सकेंगे। जैसी कि हूगवेल्ट ने टिप्पणी की हैः "Structural-functionalist theories of modernization have in fact very usefully served as an ideological mask-camouflaging the imperialist nature of western capitalism. The Western capitalist system for its very own survival needed and still needs to expand" (A.M.M. Hoogvelt, The Sociology of Developing Societies, Mac millan , 1983, pp. 61-62). अर्थात "आधुनिकीकरण का संरचनात्मक–प्रकार्यवादी सिद्धान्त वास्तव में पश्चिमी पूंजीवाद की साम्राज्यवादी प्रकृति के झूठे मुखोटे के रुप मे कार्य करने के लिए उपयोगी है। पश्चिमी पूंजीवादी व्यवस्था को अपने स्वयं के अस्तित्व के बनाये रखने के लिए और आगे विस्तार करने की आवश्यकता है।" इस झूठे मुखोटे को हटाने तथा विकसित तथा विकासशील देशों के मध्य सम्बन्ध के वास्तविक चरित्र को बेनकाब करने के प्रयास उन विद्वानों ने किये हैं जो एक विपरीत दृष्टिकोण से विकास का विश्लेषण करते है। अल्पविकास की समस्या को एक दम विपरीत ध्रुव से देखते हुए वे तीसरे विश्व की गरीबी को अर्न्तराष्ट्रीय पूंजीवाद के शोषणकारी चरित्र का एक स्वाभाविक परिणाम मानते हैं इन विश्लेषकों की खोजें प्रमुख रुप से कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त पर आधारित रही हैं। इनमें से एक प्रमुख विद्वान आन्द्रे गुन्डर फ्रेंन्क हैं। आन्द्रे गुन्डर फ्रेंन्क ने रास्तॉव के इस मॉडल की आलोचनात्मक व्याख्या अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Latin America: Underdevelopment or Revolution? (1969) में की है। आन्द्रे गुण्डर फ्रेन्क इन प्रमुख विद्वानों मे सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखते है जिन्होंने अल्प–विकास (Under development) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के साथ–साथ निर्भरता–सिद्धान्त (Dependency Theory) को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

रास्तॉव की आलोचना करते हुए फ्रेन्क कहते है किः– "रॉस्ताव की अवस्थाएं और सिद्धान्त दोनों ही मूल रुप से गलत है क्योंकि वे उन अल्प विकसित देशों की भूतकाल तथा वर्तमान काल की वास्तविकता के अनुरुप नहीं हैं जिनको वे निर्देशित करना चाहते हैं। यह स्पष्ट है कि रास्तॉव के सिद्धान्त में अल्पविकास को परम्परापगत समाजों की मूल अवस्था के रुप में देखा गया है तथा यह मान लिया गया है कि अल्पविकास की वर्तमान अवस्था से पूर्व कोई अन्य अवस्था नहीं थी। रास्तॉव के इस सिद्धान्त में आगे यह और भी स्पष्ट रुप से दिखायी देता है कि आज के विकसित समाज एक समय अल्प विकसित थे। परन्तु यह सब तथ्यों के विपरीत है। आर्थिक विकास और सांस्कृतिक परिवर्तन के प्रति यह सम्पूर्ण दृष्टिकोण जहाँ विकसित देशों के इतिहास का सन्दर्भ देता है वहीं यह अल्पविकसित समाजों के सम्पूर्ण इतिहास को नकारता हैं। वे देश जो आज अल्प–विकसित है उनका इतिहास विकसित समाजों के इतिहास से कहीं भी कमतर नहीं है। उनमें से एक की भी आज की स्थिति (उदाहरण के लिए भारत की आज की स्थिति) ऐसी नहीं है जैसी कि वह कुछ दशकों पूर्व थी अथवा कुछ शताब्दी पूर्व थी। इसके अलावा विश्व–इतिहास के बारे

में किसी स्कूली छात्र से भी इस बात की पुष्टि की जा सकती है कि आज के अल्पविकसित समाजों का इतिहास (आज के) विकसित देशों के इतिहास से बहुत गहन रुप से जुड़ा हुआ रहा है कम से कम कुछ शताब्दियों तक तो ऐसा था ही।

वस्तुतः पन्द्रवीं शताब्दी के पश्चात यूरोप के आर्थिक और राजनीतिक विस्तार ने आज के अल्पविकसित देशों को विश्व–इतिहास की एक धारा में सम्मिलित कर लिया जिसने जहाँ एक ओर कुछ राष्ट्रों के वर्तमान विकास को बढ़ावा दिया, वहीं अन्य राष्ट्रों के अल्प विकास को भी बढ़ाया। यद्यपि अल्पविकसित देशों के लिए सिद्धान्त एवं नीतियां बनाने के अपने प्रयास में रास्तॉव और अन्य सिद्धान्तकार कुछ इस प्रकार का आभास देते हैं जैसे कि विकसित देश विश्व इतिहास की इस धारा से अलग–थलग रहकर विकसित हुए हों। आज विश्व में ऐसे किसी समाज या देश को खोज पाना असम्भव कार्य है जो रास्तॉव की पहली अवस्था–परम्परागत अवस्था में हो। ऐसा तभी सम्भव है जब कोई अपनी आँखें ही बन्द कर ले । इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि रास्तॉव इन अवस्थाओं के निर्माण करते समय न तो अल्प विकसित समाजों के इतिहास को ही ध्यान में रखता है और न ही पिछली कई शताब्दियों में इनके आज के विकसित राष्ट्रों के साथ रहे महत्वपूर्ण सम्बन्धों पर ही कोई ध्यान देता है। रास्तॉव का यह दृष्टिकोण उस तथ्य को नष्ट करता है कि इन सम्बन्धों के माध्यम से आज के विकसित देशों ने इन समाजों की पहले की सामाजिक संरचना (चाहे वह परम्परागत रही हो अथवा न रही हो) का पूर्ण रुप से विनाश कर दिया था। भारत के प्रकरण मे यह सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है जिसका कि निद्योगीकरण (de-industrialization) कर दिया गया था। अफ्रीका, जहाँ दासों के व्यापार ने उपनिवेशवाद से बहुत पहले ही समाज को रुपान्तरित कर दिया था; तथा लेटिन अमेरीका, जहाँ 'इन्का (inca) (स्पेन द्वारा जीत लिए जाने से पहले का पेरु समाज) तथा ऐजटेक (A'ztecs; 1519 में कोर्टस (Cortes) द्वारा जीत लिये जाने से पूर्व की मैक्सिकन सभ्यता) की सभ्यताओं को पूरी तरह से उखाड़ फेंक दिया गया। व्यापारियों, पूंजीवादी महानगरों तथा इन उपनिवेशों के बीच सम्बन्ध ने *टेबुला रेज़ा* (Tabula Raza) देशों–अर्जेन्टीना (Argentina) ब्राजील (Brazil) तथा वेस्ट इंडीज (West Indies) में पहले से विद्यमान संरचना को हटाने में सफलता प्राप्त की तथा अन्य देशों में उसने घुसपैठ करने में सफलता प्राप्त कर ली। जिसके फलस्वरुप इन देशों की वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संरचना अब अल्पविकसित संरचना (underdeveloped structure) है। एक ही ऐतिहासिक प्रक्रिया के अर्न्तगत आज के अल्पविकिसित तथा (आज के) विकसित देशों के मध्य इस दीर्घकालिक सम्बन्ध ने अल्पविकसित देशों में निर्यात के क्षेत्र को ही प्रभावित नहीं किया (आज सार्वभौमिक रुप से यह स्वीकार कर लिया गया है तथा ये अभी अनुभवाश्रित तथा सैद्वान्तिक रुप से विसंगति पूर्ण दोहरे समाज अथवा आर्थिक प्रबन्ध रखते हैं) अपितु इसके विपरीत इस ऐतिहासिक सम्बन्ध ने उन समाजों के सम्पूर्ण सामाजिक ताने–बाने को रुपान्तरित कर दिया है जो देश आज के अल्प विकसित देश हैं। यदि रॉस्तॉव के प्रारुप की पहली अवस्था–परम्परागत अवस्था को आज किसी भी अल्प विकसित देश मे नहीं खोजा जा सकता, तो उसकी दूसरी अवस्था जिसमें आर्थिक विकास के लिए उड़ान लेने की पूर्व–दशाएं सम्मिलित हैं, अपनी अनुपस्थिति के कारण और भी विशिष्ट है। रॉस्तॉव की द्वितीय अवस्था की विशेषता बाहर से विशेषतया विकसित देशों में उत्पन्न किये गये प्रभावों के द्वारा अल्प–विकसित देशों का विभेदन है तथा इनको अल्प–विकसित देशों में विसरित करना हैं,

जहाँ वे परम्परावादी ढ़ाँचे का विनाश करते हुए उन पूर्वदशाओं को उत्पन्न करेंगी जो इसके तुरन्त बाद उड़ान की अवस्था (तीसरी अवस्था) की ओर ले जायेंगे। रॉस्तॉव के सिद्धान्त में दूसरी अवस्था की तथ्यात्मक गलती इतनी अधिक स्पष्ट है कि इसकी संक्षेप में चर्चा की जा सकती है। जैसा कि हमने प्रथम अवस्था के सन्दर्भ मे देखा था, विश्व के एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका का अल्प विकसित भाग, यदि वे रॉस्तॉव के अर्थ में परम्परागत रहें भी हो, तो भी यूरोप से अपने सम्पर्क से पूर्व वर्तमान काल के विकसित महाकेन्द्रों से उत्पन्न हुए प्रभावों द्वारा विभेदित तथा वहाँ की परिस्थितियों द्वारा प्रभावित रह चुके हैं और अभी भी उनसे प्रभावित हो रहे हैं। (रास्तॉव का यह कथन भ्रान्ति पूर्ण है कि वर्तमान अल्पविकसित देश पहले उन यूरोप के देशों के सम्पर्क में नहीं थे तथा वे परम्परागत समाज में रह रहे थे, क्योंकि एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरीका में रही उच्च्य कोटि की सभ्यताएं तथा तत्कालीन तकनीकी के विकास को देखते हुए यह परिकल्पना भ्रान्ति पूर्ण लगती है। फिर भी ये महाकेन्द्रीय परिस्थितियाँ तथा प्रभाव, जिनका इतिहास एक शताब्दी से लेकर कई शताब्दियों का है, इन 75 देशों में से एक भी देश में आर्थिक विकास के संदर्भ में 'उड़ान की अवस्था' (take off stage) को नहीं ला पायी जिन्हें 1964 की जेनेवा मे विश्व व्यापार तथा विकास पर हुई कान्फ्रेंस में उड़ान की अवस्था (take off) में बताया गया था।

अल्पविकसित देशों से प्राप्त तथ्यात्मक साक्ष्य रॉस्तॉव के सिद्धान्त के लिए विनाशकारी हैं। यह साक्ष्य उन *टेबुला रेज़ा* (Tabula Raza) देशों से हैं जो विकसित हो रही वाणिज्यक तथा पूंजीवादी व्यवस्था में सम्मिलित करने से पूर्व जनसंख्या विहीन (निर्जन) थे। आज लेटिन अमेरिका के आधे से अधिक क्षेत्र और जनसंख्या दोनों ही (विशेष रुप से अर्जेन्टीना, यूरुग्वे (Uruguaay), ब्राजील तथा वेस्ट इंडीज के सभी देश) उन क्षेत्रों मे आते है जो यूरोप में केन्द्रित व्यापारिक व्यवस्था में सम्मिलित होने के समय या तो पूर्ण रुप से निर्जन थे अथवा सम्पर्क के पूर्व की जनसंख्या का तीव्र विनाश करके पूर्णरुप से दुबारा बसाये गये। इनमें से किसी भी देश ने रास्तॉव की पहली अवस्था का सामना नहीं कियाः व्यापारिक महाकेन्द्रों ने उन क्षेत्रों पर विजय पाकर वहाँ अपने राज्य इसलिए स्थापित नहीं किये थे कि वे वहाँ पर रास्तॉव के परम्परावाद को स्थापित करेगें अपितु इसका प्रमुख उद्देश्य व्यावसायिक खानों, चीनी मिलों, तथा पशु–संवर्धन शालाओं की स्थापना करके उनका शोषण करना था। यदि इन देशों द्वारा सीधे ही रास्तॉव की द्वितीय अवस्था में कदम रखने से कुछ प्राप्त हुआ है तो वह यहाँ की शोषणकारी व्यवस्था है। परन्तु चार शताब्दियों से भी अधिक समय बीत जाने पर भी रोस्तॉव की द्वितीय अवस्था तथा सम्पर्क इन क्षेत्रों को तृतीय अवस्था में नहीं ले जा पाये, यदि हम चतुर्थ और पंचम अवस्था की बात को छोड़ भी दें। आज से पहले के इन निर्जन क्षेत्रों की अवस्था उन पहले से आबाद क्षेत्रों की भाँति ही अल्पविकसित है जो यूरोप की व्यापारिक और पूंजीवादी व्यवस्था से जोड़ दिये गये थे। वास्तव मे रास्तॉव की द्वितीय अवस्था की धारणा के विपरीत तथा अधिकतर विसरणवादी सिद्धान्तों के विपरीत उन देशों का जितना अधिक सम्पर्क उन महाकेन्द्रों के साथ रहा उतना ही वे अल्प–विकसित वे आज हैं। (अनेकों ऐसे उदाहरणों मे ब्राजील के उत्तर पूर्वी तथा केरेबियन सागर के चीनी का आयात करने वाले क्षेत्र, ब्राजील, बेल्विया तथा पेरु के केन्द्र में स्थित पूर्व से खनिज का आयात करने वाले भाग, इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।)

अल्पविकसित राष्ट्रों से प्रचुर मात्रा मे प्राप्त साक्ष्य यह दर्शाती है कि रास्तॉव की पहली और दूसरी अवस्थाएं काल्पनिक हैं। इन देशों से प्राप्त तथ्य (समकालीन साक्ष्य) यह दर्शाते हैं कि

बाद की दो अवस्थाएं अव्यवहारिक हैं। अन्त में, यदि ये देश अगर आज स्वयं को चौथी अथवा पांचवी अवस्था में पाते तो हम उन्हें अल्प विकसित नहीं कहते और रोस्तॉव को अपनी उन अवस्थाओं की खोज नहीं करनी पड़ती। रास्तॉव की इस व्याख्या मे सबसे अधिक काल्पनिक उसकी अन्तिम दो अवस्थाएं हैं जो कि पहली दो अवस्थाओं और तीसरी अवस्था का योग मात्र हैं जबकि अल्पविकिसित राष्ट्रों की दुर्भाग्यपूर्ण वास्तविकता उनके अल्पविकास की संरचना है जिससे रास्तॉव अपने परम्परावाद तथा बाह्य रुप से उत्पन्न की गई, पूर्वदशाओं से छिपाना चाहता है साथ ही वह उन देशों से उनके संरचनात्मक सम्बन्धों का भी कोई जिक्र नहीं करता जिन्होंने एक लम्बे काल तक इन देशों को बाद की दो अवस्थाओ में पहुँचने से रोका है। रास्तॉव के हिसाब से तब हमारे सामने केवल तीसरी अवस्था रह जाती है। फ्रेंक के अनुसार रास्तॉव के पूरे तर्क–वितर्क मे तीसरी और दूसरी अवस्थाओं मे महत्वपूर्ण त्रुटियां हैं।

रास्तॉव चाहता है कि हम यह विश्वास कर लें कि तीसरी अवस्था (उड़ान की अवस्था) में उसने अल्पविकास तथा विकास की संरचनाओ के मध्य होने वाले गत्यात्मक गुणात्मक परिवर्तन (dynamic qualitative change) का सैद्धान्तिक रुप से विश्लेषण किया है जबकि उसका सिद्धान्त गत्यात्मक (dynamic) है ही नहीं तथा वह संरचनात्मक विशेषताओं अथवा परिवर्तन को पृथक नहीं कर पाता, क्या वह अल्प विकास और विकास की संरचना को भी अपने सिद्धान्त में सम्मिलित कर पाता है ? इसके विपरीत वह इस पर पूर्णरुप से विचार करने मे असफल हुआ है। इतिहास के अधिकतर अवस्थावादी सिद्धान्तो की भाँति ही रास्तॉव की यह सारी कसरत अवस्थाओं मे तुलनात्मक विश्लेषण तक ही सीमित रह गयी है। विकास की अवस्थाओं की पहचान करते समय वह इस बारे मे कुछ नहीं बताता कि एक अवस्था से दूसरी अवस्था को किस प्रकार से प्राप्त किया जाये। तीसरी अवस्था तथा अन्य अवस्थाओं में भी यही स्थिति है। रास्तॉव के माडल में गत्यात्मकता का अभाव हमें आश्चर्य चकित नहीं करता; क्योंकि जैसा कि हम पहले ही देख चुके है कि उसकी ये अवस्थाएं भी अवास्तविक है; तथा उसकी ये अवस्थाएं अल्पविकसित देशों की किसी भी वास्तविकता से मेल नहीं खाती तब उसका एक अवस्था से दूसरी अवस्था में विकास अल्पविकसित विश्व की वास्तविकता से किस प्रकार मेल खा सकता है?

डेनियल लर्नर का आधुनिकीकरण का सिद्धान्त

डेनियल लर्नर ने अपनी पुस्तक 'दी पासिंग ऑफ ट्रेडिशनल सोसायटी (1958) में आधुनिकीकरण का एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसका आधार उनके द्वारा मध्य–पूर्व के देशों में किया गया एक अध्ययन था। उनके इस अध्ययन की जन संचार माध्यमों के प्रयोग में अमेरिकी विचारों को स्वरुप प्रदान करने तथा उपनिवेशवाद से मुक्त देशों में आर्थिक तथा सामाजिक विकास को बढ़ावा देने में एक महत्वपूर्ण भूमिका है। लर्नर ने अपने इस प्रारुप में विकास को त्वरण प्रदान करने में संचार माध्यमों की भूमिका पर अत्याधिक ध्यान दिया है। इस अध्ययन की एक विशेषता यह थी कि यह 1940 के दशक के अन्तिम वर्षों में अमेरिकी सरकार द्वारा अनुदानित एक प्रोजक्ट था जिसका मूल उद्देश्य यह निर्धारित करना था कि क्या मध्य–पूर्व के देशों में "वॉयस ऑफ अमेरिका" के प्रसारण सुन रहे थे तथा इन कार्यक्रमों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया किस प्रकार की थी। 1950 के दशक के मध्य मे लर्नर ने अध्ययन के आंकड़ो का पुनर्विश्लेषण एक नये अवधारणात्मक प्रारुप के सन्दर्भ में किया जिसमें पश्चिमी संचार माध्यमों द्वारा प्रसारित मूल्य व विचार मध्य–पूर्व के देशों

को परम्ररागत व प्राथमिक देशों से सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्वरुप वाले आधुनिक देशों में रुपान्तरित कर सकते थे।

लर्नर का आधुनिकीकरण का सिद्धान्त स्पष्ट था कि कोई भी देश आधुनिक बन सकता है। कोई भी राष्ट्र परम्परागत अथवा पिछड़ा बनने का लक्ष्य नहीं रखता । आधुनिक बनने के लिए, किसी राष्ट्र के नागरिक को केवल उन पश्चिमी देशों के लोगों के विचारों तथा क्रियाओं का अनुकरण करना होगा जो पूर्व में परम्परा से संबद्ध पिछड़ेपन से दूर जाकर आधुनिक विश्व में प्रवेश कर चुके हैं। वे लोग अथवा देश जो आधुनिक पश्चिमी जगत के 'नवीन तरीकों' के साथ अनुकूलन करने तथा पश्चिमी आदर्शों को स्वीकार करने प्रति अनिच्छुक अथवा अक्षम है, वे इस परिवर्तन के लिए स्वाभाविक अथवा आनुवंशिक रुप से अक्षम नहीं हैं परन्तु अपने पिछड़ेपन (जिसको परम्परागत सांस्कृतिक व्यवहारों के रुप में देखा जा सकता है) के कारण इन्हें अस्थिर समझा जाना चाहिये। लर्नर के आधुनिकीकरण के सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैः

1. पश्चिमी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एक मूल प्रारुप है जिसका अनुसरण किसी भी समाज को आधुनिक बननें के लिए करना चाहिये।

2. पश्चिमी समाज अभी भी सामाजिक लक्षणों (शक्ति, सम्पदा, कौशल, तार्किकता) का सबसे अच्छा प्रारुप प्रदान करते हैं। गतिशीलता की अवधारणा पश्चिमी आधुनिकीकरण का केन्द्रीय तत्व है (औद्योगिक क्रान्ति में बड़ी संख्या मे व्यक्तियों ने गांवों से शहर की ओर पलायन किया था)

3. पश्चिमी समाजों में यह आधुनिकीकरण (न कि पूंजीवाद) वह प्रमुख कारक है जो उन समाजों मे सामाजिक गतिशीलता के मूल स्वरुप के लिए उत्तरदायी है। पश्चिमी समाजों में इस प्रकार की बृह्द गत्यात्मकता का कारण व्यक्तियों द्वारा एक नयी जीवन शैली की तलाश को मानते हुए लर्नर ने इस बात पर बल दिया है "कि वे परिवर्तन के विचार से सीधे अनुभव द्वारा निकट से जुड़ गये"।

4. यह भौतिक गतिशीलता ही थी अपने साथ सामाजिक गतिशीलता को भी ले आयी तथा उसके साथ ही पूंजीवादी मूल्यों की एक ऐसी व्यवस्था (system of bourgeois values) का परिचालन उत्पन्न हुआ जो परिवर्तन को सामान्य मानती है।

सामाजिक संघटन (Social Mobilization)

सामाजिक संघटन व्यक्तियों को परिवर्तन के लिए और अधिक तैयार कर देता है। ऐसा वह उन्हें अपना घर, अपना व्यवसाय, अपने साथी तथा अपनी संचार प्रक्रिया को बदलने की अभिप्रेरणा अथवा शिक्षा आदि दे कर करता है। सामाजिक संघटन नयी आवश्यकताओं, नयी अभिलाषाओं, नयी मांगों, को उत्पन्न करता है। इसमें जनसंख्या के राजनीतिक विकास में वृद्धि हो जाती है। लर्नर ने तार्किकता को पश्चिमी समाजों के एक विशेष गुण के रुप मे देखते हुए इस बात पर बल दिया है कि गत्यात्मक समाज (mobile society) तार्किकता को प्रोत्साहित करते हैं क्योंकि चुनाव की गणना व्यक्तिगत व्यवहारों तथा उसके पारितोषिकों की दशाओं को आकार प्रदान करती है। व्यक्ति अपने भविष्य को नियति न मानकर प्रबन्धित मानते हैं तथा अपनी व्यक्तिगत सम्भावनाओं को प्रदत्त न मानकर अर्जित मानते हैं।

परम्परागत से आधुनिक मे विकास

यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के इतिहास के आधार पर लर्नर का कथन है कि आधुनिकीकरण का प्रारम्भ सामाजिक संघटन से होता है, जब किसी राष्ट्र की ग्रामीण जनसंख्या गांवों से शहर की ओर पलायन करना प्रारम्भ कर देती है। उनके शब्दों में–"from farms to flats, from fields to factories" ("फार्मो से फ्लैटों में, खेतों से फैक्ट्रियों में")। जनसंख्या घनत्व में वृद्धि से नगरीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है तथा इसके साथ ही अनेक प्रकार की मांगों की उत्पत्ति होती है–जैसे–स्कूल, जनसंचार माध्यम, मुक्त व्यापार हेतु बाजार, तथा अन्य आधुनिक तथा लोकतांत्रिक रुप से संगठित संस्थाएं। अन्ततः जैसे–जैसे साक्षरता तथा जनसंचार माध्यमों के उपभोग में वृद्धि होती है, त्यों–त्यों आर्थिक सहभागिता (भौतिक उपभोग के उच्च स्तरों के रुप में) के सामान्य स्तरों में भी वृद्धि होती है। लर्नर ने उपभोग वस्तुओं को खरीद पाने की क्षमता तथा मतदान को एक आधुनिक राष्ट्र के कुछ स्पष्टतम संकेतकों में माना हैं।

जनसंचार माध्यमों की भूमिका

आधुनिकीकरण के इस सिद्धान्त को आकर्षक तथा प्रबल बनाने में जन संचार माध्यमों को प्रमुख भूमिका प्रदान की गयी है। लर्नर की मान्यता है कि पश्चिम से प्राप्त संचार संदेशों (messages) तथा चित्रों (images) का प्रकटीकरण (exposure) उत्तर औपनिवेशिक विश्व में स्थित व्यक्तियों को विचारने तथा कार्य–सम्पादन के परम्परागत तरीकों को छोड़कर उनके स्थान पर आधुनिक तरीकों को अपनाने में सहायक होता है। लर्नर के अनुसार जनसंचार माध्यमों की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में भूमिका एक गुणक (multiplier) तथा अभिवृद्धक ही होती है। दूसरे शब्दों में, उसकी मात्रा से कई गुना वृद्धि (तीव्रता) आ जाती है। इस प्रक्रिया को 'संचालित करने वाली संज्ञानात्मक–क्रियाविधि' (driving cognitive mechanism) 'परानुभूति' (empathy) अथवा 'मनोवैज्ञानिक गतिशीलता' (psychic mobility) है। परानुभूति किसी व्यक्ति की स्वयं को अपरिचित परिस्थितियों व स्थानों जैसे आधुनिक विश्व में प्रक्षेपित करने की इच्छा तथा योग्यता है तथा उन दशाओं का अनुभव करने की अभिलाषा है, जिसका प्रतिनिधित्व पश्चिमी समाज करते हैं।

परानुभूति तथा मनोवैज्ञानिक गतिशीलता (Empathy and Psychic Mobility)

लर्नर ने अपनी मुख्य अवधारणा 'परानुभूति' (empathy) को "उस आंतरिक क्रियाविधि के रुप मे परिभाषित किया है जिससे एक नया–नया गतिशील व्यक्ति परिवर्तित हो रहे विश्व में निपुणता से कार्य कर सके। परानुभूति स्वयं को दूसरे के स्थान पर रखकर देखने की क्षमता है अथवा ऐसी क्षमता जिससे कि व्यक्ति स्वयं को दूसरे के स्थान पर रखकर विचार कर सके, एक ऐसा स्थान जो उसके अपने स्थान से बेहतर हो। लर्नर के सिद्धान्त की प्रमुख उपकल्पना है कि "high empathetic capicity is the predominant personal style only in modern society, which is distinctively industrial, urban, literrate and participant." अर्थात "उच्च परानुभूतिक क्षमता आधुनिक समाज में प्रभावी व्यक्तिगत शैली है जो विशिष्ट रुप से औद्योगिक, नगरीय, साक्षर तथा सहभागी है।"

संक्षेप में, मनोवैज्ञानिक गतिशीलता परानुभूति को उत्पन्न करती है। इस प्रकार से परानुभूति ही मनोवैज्ञानिक गतिशीलता है। प्रारम्भिक अवस्था मे यह भौतिक गतिशीलता के कारण उत्पन्न होती है। उसके बदले में, मनोवैज्ञानिक गतिशीलता मनोवैज्ञानिक रुप से गतिमान व्यक्ति की रचना करती है। जो कि आधुनिक समाज का मूलभूत तत्व है तथा जन संचार माध्यम इसके

पोषित करते रहते है। लर्नर के मत में, जनसंचार माध्यम अनौपचारिक शिक्षण में विशेष रुप से प्रभावी होते हैं। क्योंकि वे वास्तविकता का सरलीकरण करते है तथा सूचना को एक ऐसे सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं जो कि संवेदन (perception) तथा सीखने की प्रक्रिया को सुगम करे। "परानुभूति" व्यक्तियों में परम्परागत उदासीनता को उकसाती है तथा उन्हें पुराने तरीकों तथा संस्तरण क्रम पर प्रश्न खड़ा करने के लिए प्रोत्साहित करती है। साथ ही उन्हें नवीन राष्ट्र के आर्थिक व राजनीतिक जीवन में पूर्ण सहभागिता करने योग्य बनाती है।

साक्षरता

लर्नर ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे कई मूल कारकों को सावधानीपूर्वक परिभाषित किया है तथा यह भी बताया है कि ये किस क्रम में घटित होते हैं। उन्होंने इसमें चार अन्य कारकों–नगरीकरण, साक्षरता, जनसंचार सहभागिता तथा राजनीतिक सहभागिता को सम्मिलित किया है। व्याक्तियों का एक स्थान पर जमाव जन–शिक्षा की संभावनाएं उत्पन्न करता है जिससे साक्षरता व कौशल का विकास होता है। इसके द्वारा जन संचार माध्यमों के लिए एक बाजार बनाने में सहायता मिलती है। साक्षरता बढ़ने से जनसंचार माध्यम के उपभोग मे तेजी से वृद्धि होती है, लर्नर ने जनसंचार माध्यम सहभागिता को "समाचार पत्र खरीदने, रेडियो का स्वामित्व रखने तथा सिनेमा देखने के अनुपात के रुप में परिभाषित किया है।" इसके आधार पर लर्नर का तर्क है कि–"rising media participation tends to raise participation in all sectors of the social systems" "जनसंचार माध्यम सहभागिता में वृद्धि के साथ सामजिक व्यवस्था के सभी क्षेत्रों मे सहभागिता में वृद्धि होती है।"

इस प्रकार से लर्नर के इस प्रारुप का प्रमुख कारक साक्षरता एव जन संचार माध्यम सहभागिता है। उनका मत है कि यदि कोई समाज 30% तक साक्षरता प्राप्त कर लेता है तो उस समाज में जन संचार माध्यम अधिक प्रभावी तरीके से कार्य करने लगते हैं क्योंकि इस स्थिति में जनसंचार माध्यम का गुणकीय प्रभाव (multiplier effect) होता है जो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की गति में तेजी के साथ वृद्धि करता है।

लर्नर ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में परम्परागत समाज से आधुनिक समाज में रुपान्तरण के मध्य एक तीसरी अवस्था–संक्रमणशील समाज (transitional society) की परिकल्पना की है। यह एक ऐसा समाज है जो विश्व के अग्रणी क्षेत्रों से सांस्कृतिक विसरण (diffusion) की प्रक्रिया के माध्यम से आधुनिकता का अनुकरण करता है। लर्नर के लिए यह 'संक्रमणशील समाज' ही 'परानुभूतिक समाज' (emphathetic society) है। इस समाज में संक्रमणशील व्यक्ति (transitional man) उन सभी वस्तुओं को वास्तविकता में देखना चाहता है जिन्हें उसने अभी तक केवल अपने मस्तिष्क के पटल पर ही देखा है (रेडियो, सिनेमा तथा टी० वी० स्क्रीन के माध्यम से)। वह उस दुनिया (पश्चिमी) में वास्तव में रहना चाहता है जिसमें वह स्थानापन्न रुप से (vicariosly) रह रहा है। परानुभूति स्वाभिमान (Self esteem) को कम से कम समय में पुनः व्यवस्थित करना है; लर्नर का परम्परागत समाज का विवरण डुर्कहाइम की 'यान्त्रिक एकता' की धारणा से काफी मिलता है। सामान्य रुप से, लर्नर के लिए समाज जितना अधिक परानुभूति प्रदर्शित करेगा, उतना ही अधिक वह आध ुनिकीकरण की प्रक्रिया से जुड़ता चला जायेगा। मैक्लीलैंड के समाज में 'एचीवमेंट ओरियन्टेशन'

(achievement orientation) की भाँति लर्नर का आधुनिकता का परानुभूतिक आधार (empathetic orientatioan) के भी गणनात्मक पक्ष है।

संक्षेप मे आधुनिकीकरण सिद्धान्त के प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित है

1. आधुनिकीकरण सिद्धान्त आर्थिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक लक्षणों का मिश्रण है जैसे मूल्य व्यवस्था का सन्दर्भ, व्यक्तिगण अभिप्रेरणा, तथा पूंजी संचय।

2. आधुनिकीकरण के अधिकतर विवरणों में सबसे अधिक प्राथमिकता व्यक्तियों के मूल्यों, आदर्शो तथा विश्वासों की भूमिका को दी गयी है–परम्परागत अथवा आधुनिक– दोनों ही प्रकार के समाजों में जिनकी वे रचना करते है तथा इस प्रकार मूल्य परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण दशाएं हैं।

3. पश्चिमी जगत में औद्योगिकीकरण के विकास के इतिहास को अब विशिष्ट (Unique) नहीं समझा जाता जैसा कि वेबर का मत था। अपितु इसे सम्पूर्ण विश्व में विकास के ब्लू प्रिंन्ट के रुप में देखा जाता है (देखें आइजेनस्टैड 1966)। विकास के इस प्रारुप को 'यूरोसेन्ट्रिक मॉडल आफ डवलेपमेन्ट' के नाम से भी जाना जाता है।

4. जैसे–जैसे परम्रागत व्यवहार के प्रतिमान आधुनिकीकरण के दबाब में मार्ग प्रदान करते हैं, समाज में परिवर्तन उद्‌विकास के रुप में घटित होता है। यद्यपि पश्चिमी समाजों में इस दबाब को उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ आन्तरिक थीं परन्तु विकासशील देशों में यह बाह्य शक्तियों के दबाव के कारण विचारों तथा तकनीकीक (विसरण द्वारा) घटित होता है।

5. विसरण द्वारा आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया को विकासशील देशों में कुछ विशेषताओं को विकसित करना चाहिये, जिसमें एकाकी परिवार पर आधारित नगरीकरण, साक्षरता तथा प्रशिक्षण हेतु शैक्षणिक विकास, समाज के विषय में बढ़ती जागरुकता व विचारों के प्रसार हेतु जनसंचार माध्यम, लोकतांत्रिक व्यवस्था में सहभगिता व राजनीतिक जागरुकता को बढ़ाने में, निवेश हेतु पूंजी प्रदान करके व्यापारिक संभावनाओं में वृद्धि, परम्परागत आधार पर सत्ता के प्रतिमानों का विस्थापन करके प्रतिनिधित्व पर आधारित राष्ट्रीय सरकार के साथ–साथ कानून की एक तार्किक व्यवस्था इसमें सम्मिलित हैं।

6. विभिन्न समाज विकास की विभिन्न अवस्थाओं में हैं क्योंकि वे आधुनिकता के उपरोक्त लक्षणों को उत्पन्न करने में न्यूनाधिक सफल है।

आधुनिकीकरण सिद्धान्त की आलोचना

आधुनिकीकरण के उपरोक्त सिद्धान्त को तीव्र आलोचना का सामना करना पड़ा है। आधुनिकीकरण सिद्धान्त का दावा उन कारकों को खोज लेने का है जो आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण हैं जैसे 'उपलब्धि–अभिप्रेरणा' (achievement motivation) तथा विस्तृत पारिवारिक सम्बन्धों के महत्व में शिथिलता। जबकि ऐसा हो सकता है कि तकनीकी, पूंजी निवेश के स्तर तथा बाजार की मांग में परिवर्तन के बिना प्रचुर मात्रा में आर्थिक वृद्धि न हो सके, परन्तु यह नहीं हो सकता कि इस प्रकार की आर्थिक वृद्धि को प्राप्त करने के लिए मूल्य व्यवस्था तथा सामाजिक संस्थाओं में भी बदलाव करना आवश्यक हो जैसा कि आधुनिकीकरण सिद्धान्त दावा करता है। वस्तुतः इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं जो कि उनके इस दावे का खण्डन करते हैं। 1960 के दशक के बाद के वर्षो

से समाजशास्त्रीय साहित्य में उभरे कई सैद्धान्तिक और अनुभवाश्रित (empirical) आलोचनाएं निम्नवत है:

1. अनेकों आलोचकों ने इस ओर इंगित किया है कि इस सिद्धान्त की प्रमुख धारणाएं 'परम्परागत' तथा 'आधुनिक' इतनी अधिक भ्रामक है कि इनका प्रयोग विभिन्न समाजों का वर्गीकरण करने के लिए उपयोगी नहीं है। दोनों ही शब्द किन्हीं दो बड़े भिन्न प्रकार के समाजों की ओर संकेत नहीं करते, जो कि वास्तव में हैं या रहे हैं। इसके विपरीत 'परम्परागत' का लेबल एक ऐसी व्यापक अवधारणा के रुप मे सुझाया गया है जो पूर्व–औद्योगिक समाजों की एक ऐसी बड़ी श्रृंखला को समाविष्ट कर लेता है जो सामाजिक–आर्थिक तथा राजनीतिक संरचनाओं (जैसे–सामंतवादी, आदिवासी, नौकरशाही राजशाही) में परस्पर बहुत भिन्न हैं। इन समाजों में होते रहे सामाजिक परिवर्तनों की क्रमिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए कहीं अधिक सावधानीपूर्वक ऐतिहासिक विश्लेषण की आवश्यकता है (आइजेनस्टैड 1970:25)।

2. यद्यपि इस सिद्धान्त से समाज किस प्रकार से विकसित होता है? जैसे प्रश्न की व्याख्या करना अपेक्षित है परन्तु इसमें इस प्रक्रिया की बहुत कम व्याख्या हुई है। मात्र प्रगतिशील प्रवृत्तियों और स्वस्थ आर्थिक अभिप्रेरणा की आवश्यकता के, हमें इस बात का कोई पता नहीं चलता कि वह कौन सी क्रियाविधियाँ हैं जो सामाजिक विभेदकरण को लाती है जिसके बारे में इसमें इतना अधिक कहा गया है।

3. फिर भी यदि चर्चा के निहित 'परम्परागत' तथा 'आधुनिक' समाज की अवधारणओं को मान भी लें तो क्या ये दोनों परस्पर अनन्य (mutually exclusive) श्रेणियाँ हैं जैसा कि सिद्धान्त में कहा गया है। जैसा कि दावा किया गया है कि जैसे–2 समाज विकसित होता है आधुनिक मूल्यों तथा प्रवृत्तियों की शक्तियाँ परम्परागत जगत को निकाल फेंक देती है। परन्तु इस बात के काफी प्रमाण हैं कि आर्थिक विकास तथा आधुनिकता के आगमन से तथाकथित 'परम्परागत' मूल्य, क्रियाएं अथवा विश्वास आवश्यक रुप से समाप्त नहीं हो जाते। उदाहरण के लिए गसफील्ड (1973) ने इंगित किया है कि आधुनिक तकनीकियों के विकास ने इस्लाम के परम्परागत स्वरुप को सुदृढ़ किया है। इस तरह के भी प्रमाण मिलते हैं कि 'आधुनिक' औद्योगिक समाज में 'परम्परागत' मूल्य न केवल विद्यमान रहते हैं अपितु वास्तव में इसे जारी रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह भी करते हैं। जैसा कि फ्रैंक (1969:26) ने दर्शाया है कि किस प्रकार प्रदत्त आदर्श (उदाहरण के लिए व्यक्तियों का उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, आयु तथा लिंग के आधार पर परखना) जापानी उद्योग में पारितोषिक (rewards) प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यद्यपि जापानी कम्पनियों में भर्ती का आधार उपलब्धियाँ (achievement) हैं– अभ्यर्थियों के कौशल तथा एक बार जब उन्हें नौकरी पर रख लिया जाता है, उनका वेतन तथा प्रमोशन की संभावनाएं बहुत कुछ उनकी आयु, पृष्ठभूमि तथा पारिवारिक जिम्मेदारियों पर निर्भर करती हैं जो काफी हद तक प्रदत्त हैं। फ्रैन्क ने वास्तव में इस विषय में कई आधुनिक समाजों में परम्पराओं की निरन्तरता के महत्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जिनमें जापान, इंग्लैंड तथा अमेरिका भी सम्मिलित हैं। जो यह बताते है कि आधुनिक औद्योगिक समाज अपने सदस्यों में आवश्यक रुप से अभिप्रेरणा द्वारा उपलब्धि को प्रोत्साहित नहीं करते अपितु इसके एकदम विपरीत आचरण करते है। जैसे अभिलाषा (ambition) का अभाव। इसी प्रकार आधुनिक पूंजीवादी समाज में लिंग सम्बन्ध (gender relations) परिवार, स्कूल,

स्त्री–पुरुष के मध्य उपलब्धियों के समान स्तर को हतोत्साहित करते हैं जिसके परिणामस्वरुप पुरुष प्रधानता (male dominance) तथा महिला की अधीनता (female subordination) जैसी प्रघटनाएं उजागर होती हैं। इसके अतिरिक्त प्रगतिशील अर्थव्यवस्थाओं में शिक्षा–व्यवस्था के अनेकों अध्ययनों से कुछ यह बताते हैं कि कई कामगार वर्गों (working class) के युवकों के लिए स्कूली शिक्षा उनकी अभिलाषाओं को नष्ट कर देती है क्योंकि (उच्च उपलब्धि–अभिप्रेरणा) (जैसी मैक्लीलैण्ड की मान्यता है) के स्थान पर निम्न उपलब्धि–अभिप्रेरणा के लिए समाजीकृत किया जाता है।

4. इस प्रस्थापना पर प्रश्न उठाया जाना चाहिये कि औद्योगिकीकरण व इसके सहयोगी नगरीकरण में वृद्धि होती है, बृह्द नातेदारी व्यवस्था कमजोर हो जाती है क्योंकि व्यक्ति अपने एकाकी परिवार को अधिक प्राथमिकता देने लगते है।

इस प्रस्थापना की आलोचना करते हुए नारमन लौंग ने कहा है कि "कई अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला है कि कुछ विस्तृत नातेदारी व्यवस्थाएं आधुनिक आर्थिक सन्दर्भ में न केवल जीवित रहती हैं अपितु वे प्रायः व्यक्तियों का पूंजी तथा अन्य आवश्यक संसाधनों को प्राप्त करने में सहायक होती है जो आधुनिक पूंजीवादी प्रतिष्ठानों के लिए आावश्यक माने जाते हैं।"

इसके अतिरिक्त नगरीय गरीब तथा मध्यम वर्ग तथा कार्य की तलाश में नगर पहुँचे उन सभी व्यक्तियों के लिए विस्तृत नातेदारी परिजन सहायता का एक महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं जैसा कि एन्डरसन (1971), पैन (1986) तथा विलमोट व यंग (1971) के अध्ययनों मे देखने को मिलता है। यद्यपि जहाँ यह कहना मूर्खता होगी कि नगरीकरण नातेदारी सम्बन्धों को बिल्कुल भी प्रभावित नहीं करता वहीं यह कहना भी गलत होगा यह विस्तृत नातेदारी सम्बन्धों को पूर्णतया नकार देता है। ये या तो परिवर्तित हो जाते है या अथवा नगरीकरण से पूर्व पायी जाने वाली अवस्था से एक भिन्न स्वरुप में बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त, परम्परा–आधुनिकता सिद्धान्त की एक प्रमुख कमजोरी कि इसके द्वारा ऐसे (बिना किसी ऐतिहासिक अथवा वर्तमान प्रमाणों की जाँच किये) सामान्यीकरणों का प्रतिपादन करना है कि ऐसा–ऐसा घटित होगा।

5. ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति अपनी 'परम्परागत' भूमिकाओं तथा अभिलाषाओं (वे जो कि नातेदारी व्यवस्था से जुड़ी हैं) को संसाधनों के रुप में प्रयोग करने में समर्थ होते हैं जो कि उनकी सामाजिक तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए उपयोग में लाये जा सकते हैं।

6. मैकलीलैंड ने अपने 'उपलब्धि–अभिप्रेरणा' के विश्लेषण में मैक्स वेबर के विचारों का अत्यधिक उपयोग किया है जिसे कि वह आर्थिक वृद्धि का प्रमुख कारण मानता है। परन्तु यहाँ मैक्लीलैंड ने अपनी इस सैद्धान्तिक शिल्पकारी (handiwork) में वेबर के सिद्धान्त का दुरुपयोग किया है। वेबर ने ऐसी गतिविधि को, जो प्रोटेस्टैंट धर्म के मतानुयायियों में मोक्ष (salvation) प्राप्ति से सम्बन्धित विषयों से व्युत्पन्न (derived) की गयी है, तार्किक पूंजीवाद के उदय में एक महत्वपूर्ण सहयोगी कारक माना है। जबकि मैकलीलैंड ने मैक्स वेबर द्वारा इस धार्मिक उत्कण्ठा (anxiety) को दी गयी महत्ता को अनदेखा करते हुए उसे मात्र एक ऐसी अप्रत्यक्ष मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति में सीमित कर दिया है जो कि सफलता के लिए आवश्यक है। उसके अनुसार यह न केवल 16वीं शताब्दी के बाद के पश्चिमी समाजों मे दृष्टिगोचर होती है अपितु उन विभिन्न प्रकार के अनेकों समाजो मे भी

घटित होती है जिन्होंने आर्थिक वृद्धि का अनुभव बाद में प्राप्त किया। इस प्रकार से मैकलीलैंड का यह सैद्धान्तिक प्रारुप वेबर के सिद्धान्त का सम्मान करने मे असफल प्रतीत होता हैं

7. इस आधुनिकीकरण के सिद्धान्त की अन्तिम तथा कई अर्थों में सबसे शक्तिशाली आलोचना है कि यह तीसरी दुनिया के देशों में उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के प्रभाव को पूर्णरुप से अवहेलना करता है। यह एक आश्चर्यजनक चूक (staggering omission) है। इसमें यह ज्ञापित करने की असफलता भी है कि आर्थिक वृद्धि का सम्बन्ध संसाधनों पर नियन्त्रण करने की शक्ति से भी है। हूगवेल्ट (Hoogvelt) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि–"पारसन्स के उपागम से ऐसी धारणा बनती है कि मानवता का इतिहास एक सुखी, तनावमुक्त, विचारों के शान्तिपूर्ण आदान–प्रदान, तथा यहाँ–वहाँ तथा सभी स्थानों पर जहाँ भी समाजों में सम्पर्क हुआ, एक प्रेरक प्रगति का इतिहास है। सांस्कृतिक विसरण की प्रक्रिया कुछ ऐसी प्रतीत होती है कि मानों एक मित्रवत व्यापारी यात्री, एक समयविहीन मार्को पोलो (इटली के वेनिस शहर का व्यापारी जिसने 1271 से 1295 के मध्य यूरोप व एशिया के अनेक देशों में भ्रमण किया था), मासूमियत से विश्व में घूम रहा हो तथा सज्जनतापूर्वक एक स्थान से कुछ विचारों को लेकर दूसरे स्थानों में अहानिकारक तरीके से संग्रह कर रहा हो। आश्चर्यजनक रुप से पारसन्स के उद्‌विकास पर किये गये किसी भी कार्य में 'प्राबल्य' (domination), 'शोषण', 'उपनिवेशवाद', 'साम्राज्यवाद' का कहीं भी कोई जिक्र नहीं मिलता" (1976:18)।

वास्तव में आधुनिकीकरण सिद्धान्त का प्रमुख बल समाज की विभेदीकरण द्वारा परिवर्तन में है। डुर्कहाइम तथा पारसन्स आदि सभी विद्वान इसे समाज में एकता बनाये रखने के लिए आवश्यक मानते है। वहीं वे समाज के दूसरे पक्ष–शक्ति के प्रयोग–को तथा सामाजिक संघर्षो से उत्पन्न परिवर्तन की उपेक्षा करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि यद्यपि आधुनिकीकरण का सिद्धान्त संरचनात्मक दृष्टि से विकास के महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालता है परन्तु वहीं यह सामाजिक संघर्षो, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद के विकास पर पड़ने वाले प्रभावों की पूर्णतया उपेक्षा करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

बॉटोमोर, टी. बी. 1971: *सोशियोलोजी: ए गाइड टू प्राब्लम्स एण्ड लिटरेचर,* बोम्बे: एलन एण्ड अनविन।

वैलेस रुथ ए. एण्ड एलिसन वोल्फ 1986: *कन्टमपरेरी सोशियोलोजिकल थ्योरी: कन्टिन्यूइंग दी क्लासिकल ट्रेडिशन,* न्यू जैरीसी: प्रेन्टिस हाल इंन्कलिस।

मेनार्ड, मेरी 1989: *सोशियोलोजिकल थ्योरी,* न्यूयार्क: लोंगमैन।

पारसन्स, टालकॉट 1964: 'इवोल्यूशनरी यूनिवर्सल्स इन सोसायटी', *अमेरिकन सोशियोलोजिकल रिव्यू, 29, 339–57.*

पारसन्स, टालकॉट 1966: *सोसायटिज: इवोल्यूशनरी एण्ड कम्पेरेटिव पर्सपेक्टिवस्,* एंगिल्सवुड क्लिफस्,एन. जे.: प्रेन्टिस हाल इंन्कलिस।

पारसन्स, टालकॉट 1951: *दी सोशल सिस्टम,* न्यूयार्क: दी फ्री प्रेस।

वैबस्टर, एन्ड्रयू 1990: इन्ट्रोडक्शन टू *सोशियोलोजी ऑफ डवलेपमेन्ट,* पालग्रेव मेकमिलन:

लोंग, नारमैन 1977: *एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशियोलोजी ऑफ रुरल डवलेपमेन्ट,* लन्दन: इंगलिश लेंग्वेज बुक सोसायटी एण्ड टेविस्टाक पब्लिकेशन

हैरिस, ग्राहम 1989: *दी सोशियोलोजी ऑफ डवलेपमेन्ट,* न्यूयार्क: लोंगमैन।

हो‍जेलिज, बी.एफ. 1960: *सोशियोलोजिकल फेक्टर्स इन इकोनोमिक डवलेपमेन्ट*, शिकागो: दी फ्री प्रेस।

आइजेनस्टैड, एस. एन. 1966: मॉडर्नाइजेशन : प्रोटेस्ट एण्ड चेंज, एंगिल्सवुड क्लिफस्,एन.जे.: प्रेन्टिस हाल इंन्कलिस।

आइजेनस्टैड, एस. एन. 1970: 'सोशल चेंज एण्ड *डवलेपमेन्ट'* इन इ.एन.आइजेनस्टैड, रीडिंग्स इन सोशल इवोल्यूशन एण्ड *डवलेपमेन्ट*, आक्सफोर्ड एण्ड लन्दन: पेरगामोन प्रेस।

वेबर, मैक्स 1904: *प्रोटेस्टेंट इथिक एण्ड स्पिरिट ऑफ केपिटेलिज्म*, टालकॉट पारसन्स द्वारा अनुवादित, 1930. लन्दन: जार्ज एलन एण्ड अनविन।

मूरे, विल्बर्ट ई. 1963: *सोशल चेंज*, एंगिल्सवुड क्लिफस्, न्यू जैरीसी: प्रेन्टिस हाल इंन्कलिस।

स्मेलसर, नील जे. 1963: 'मैकेनिज्म ऑफ चेंज एण्ड एडजेस्टमैंट टू चेंज', इन बी.एफ. होजेलिज एण्ड विल्बर्ट ई. मूरे (सम्पादित) *इन्डस्ट्रिएलाइजेशन एण्ड सोसायटी*, दी हाग : माउन्ट. रिप्रिंटिड इन जी. गाल्टन (सम्पादित), 1971: *इकोनोमिक डवलेपमेन्ट एण्ड* सोशल चेंज, न्यूयार्क: दी नेचुरल हिस्ट्री प्रेस। ,

मैक्लीलैण्ड, डेविड सी. 1966: 'दी एचीवमेंट मोटिव इन इकोनोमिक ग्रोथ' इन बी.एफ. होजेलिज एण्ड विल्बर्ट ई. मूरे (सम्पादित) इन्डस्ट्रिएलाइजेशन एण्ड सोसायटी, दी हाग : माउन्ट.

रास्तॉव, डब्ल्यू. डब्ल्यू. 1969: *दी स्टेजिस ऑफ इकोनोमिक ग्रोथ: ए नान कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो*,

लर्नर, डेनियल *दी पासिंग ऑफ ए ट्रेडिशनल सोसायटी : मॉडर्नाइजिंग दी मिडिल ईस्ट*, न्यूयार्क : दी फ्री प्रेस।

'नवरचना' में योगदान के लिये निर्देश

1. *'नवरचना'* मूल रूप से लिखे गये समाजशास्त्रीय शोध–पत्रों का स्वागत करता है। शोध–पत्र (6000– 8000 शब्दों से ज्यादा नहीं) का पृष्ठ के एक तरफ टाइप किया होना तथा पंक्तियों के बीच दोहरी जगह के साथ पृष्ठ के चारों तरफ बराबर हाशिया होना आवश्यक है। शोध–पत्र के साथ (100 शब्दों से ज्यादा नहीं) उसका सामान्य सारांश भी संलग्न होना चाहिए।
2. शोध–पत्र को माइक्रोसॉफ्ट वर्ड में टाइप करके ई मेल द्वारा संलग्नक के रूप में ***pubetdr1994@gmail.com*** पर भेजा जाना चाहिए। लेख के अक्षर **Kruti Dev 010** लिपि में होना चाहिए। अन्य किसी लिपि में टाइप किया हुआ लेख स्वीकार्य नहीं होगा।
3. लेख में उद्धरण के लिए कृपया लेखक — दिनांक की प्रक्रिया को अपनाएं, उदाहरण के लिए, (चौहान 2002)। यदि किसी लेखक के एक अधिक लेखों का उद्धरण दिया जा रहा हो तो कृपया प्रकाशन के वर्षों को अल्पविराम द्वारा अलग (सिहं 1995, 1999)। उद्धरण के पृष्ठ संख्या को कोलन का प्रयोग कर अलग लिखें (मुखर्जी 1995 : 244) तथा यदि एक से अधिक पष्ठों का उद्धरण दिया जा रहा हो तो पृष्ठ संख्याओं को हाइफन का प्रयोग कर लिखें (दूबे 1995 : 244 344)। जब एक से अधिक लेखकों का उद्धरण दिया जा रहा हो तो भिन्न लेखकों को कालानुक्रम के हिसाब से सेमी कोलन अलग कर लिखें (दूबे 1995; मिश्रा 2005; नारायण 2008)। सह–लेखकों के कार्य के लिए, दोनों के नामों को इस प्रकार उद्धृत करें (फ्रैंक और डेविड 1995); तीन से अधिक लेखकों को उद्धृत करने के लिए, पहले नाम के बाद 'और अन्य' का उपयोग करें (हैल्ड और अन्य, 2010)। वही उद्धरण को उसी परिच्छेद में बिना किसी और उद्धरण के आये दोबारा लिखा जाता है तो, 'वही' का प्रयोग करें तथा लेखक के नाम की पुनरावृत्ति किये बिना सम्बन्धित पृष्ठ संख्या को उद्धृत करें (वही.: 44)। अगर राजपत्र रिपोर्ट और सरकारी संस्थाओं के या किसी अन्य संगठन के कार्यों को उद्धृत करना हो तो, जिस संस्था / संगठन ने प्रकाशन को प्रायोजित किया हो तो उसका पूरा नाम लिखें (दिल्ली सरकार 2010), और इन्हें फिर से बाद के प्रसंगों में उद्धृत करना हो तो संस्था/संगठन के नाम का शब्द संक्षेप /लघु रूप लिखें (दि.स. 2010)।
4. लेख में प्रयोग में लाये हुए पुस्तकों का विस्तृत विवरण बाद मे अलग से सन्दर्भ ग्रन्थ सूची इस क्रम में लिखें : (क) लेख : लेखक का नाम; प्रकाशन का वर्ष; लेख का शीर्षक (इन्वर्टिड कोमा में); शोध पत्रिका नाम (इटालिक में); और वोल्यूम सं., अंक सं. और प्रारम्भ और अंत के पष्ठ सं.। (ख) संपादित पुस्तकों /कार्यों में अध्याय; लेखक का नाम; प्रकाशन का वर्ष; अध्याय का शीर्षक (इन्वर्टिड कोमा में); सम्पादक का नाम; पुस्तक का वर्ष (इटालिक में); अध्याय का शीर्षक (इन्वर्टिड कोमा में); अध्याय के प्रारम्भ और अंत के पष्ठ सं.; प्रकाशन का स्थल; प्रकाशन का वर्ष; प्रकाशन का नाम। सन्दर्भों की सूची में (पहले) लेखक के उपनाम के वर्णक्रमानुसार रूप से लिखा जाना चाहिए।
5. 'नवरचना' एंडनोट स्वरूप का अनुकरण करता है जो इस प्रकार हैः उन सभी व्याख्यात्मक टिप्पणियों को एक साथ क्रमबद्ध करें जिस क्रम में उन्हें मुख्य लेख में उल्लेखित किया गया है (क्रमांक के आधार पर सुपरस्क्रिप्ट का प्रयोग करके) एवं उन्हें लेख के अन्त में पर सन्दर्भ ग्रन्थ सूची के पहले रखें। एंडनोटस को सन्दर्भ ग्रन्थ सूची में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।
6. तलिका, चार्ट, नक्शे, ऑकडे आदि लेख के अन्त में अलग से रखा जाना चाहिए। इन्हें अंकों का प्रयोग कर उपयुक्त शीर्षक/कैप्शन के साथ क्रमानुसार रखें। लेख में उन्हें उनके अंको द्वारा सूचित करें –सारणी 5, नक्शा 1 आदि न कि उनके स्थान द्वारा–जैसे सारणी के ऊपर चित्र के नीचे आदि।
7. अन्य कार्यों से लिए शब्द या वाक्यों को ऐकल उद्धरण चिन्हों के भीतर रखें, दोहरे उद्धरण चिन्हों का उपयोग केवल कोटेशन के भीतर ही करें। यदि कोटेशन पचास शब्दों से अधिक हो तो उन्हें मुख्य टेक्स्ट से अलग लिखें एवं उन्हें पृष्ठ के बाईं तरफ रखें। जब तक पूरा वाक्य उद्धरण का हिस्सा न हो तो विराम चिन्ह उद्धरण चिन्हों के बाहर ही रहना चाहिए।
8. 1से 99 तक के अंकों को शब्दों में लिखें 100 तथा उससे ऊपर के अंकों को ऑकडों में। हालांकि कुछ जगहों पर ऑकडों का प्रयोग किया जाना चाहिए, जैसे दूरीः 3 कि.मी.; उम्रः 32 वर्ष; प्रतिशतः 64 प्रतिशत एवं वर्षः 1995 आदि।
9. योगदानकर्ताओं द्वारा अपने लेख के साथ एक अलग पृष्ठ पर अपना नाम, पद, अधिकारिक पता और ई -मेल भेजना आवश्यक है। उन्हीं लेखों के प्रकाशन पर विचार किया जायेगा जिन्हें पहले कभी प्रकाशित नही किया गया हो या जिन्हें किसी अन्य जगह पर प्रकाशन के लिए विचार न किया जा रहा हो। इस आशय की एक घोषणा को लेख के प्रथम पृष्ठ में शामिल किया जाना चाहिए।
10. संपादकीय सम्बधित पत्राचार इस पते पर किया जाना चाहिएः प्रो. वी. पी. सिंह, सम्पादक, नवरचना, 18, बैंक रोड, इलाहाबाद 211002 (उ.प्र.)